जीवन-परिमल

७-९ क्रमिक-पुस्तक-मालिका १९९१

— विषय —

प० विमलाजी ठकार का शब्दाङ्कित चिन्तन : अध्यात्म-समग्रजीवनशील (—तदन्तर्गत मानवीय जीवन-विकास एवं राष्ट्र तथा विश्व के हित—) के सन्दर्भ में, तदनुरूप एवं आनुषङ्गिक समानधर्मी विशिष्ट चिन्तन
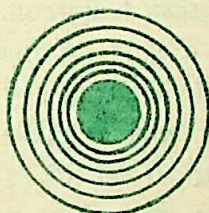
"कली का आनन्द है खिलने में, फूल का आनन्द है फूलने व सुगन्ध बिखरने देने में, वैसे अपना आनन्द होना चाहिए जीवन जीने में !......

आत्मरति का आनन्द, स्वरूप-साक्षात्कार का आनन्द, सहज स्वरूप का आनन्द, इन्द्रियों में से ही प्रकट होने वाला है। इसलिये इन्द्रियों को प्रेम से सिखायें, शरीर-मन-बुद्धि को उसके लिये तैयार करें; यह स्वशिक्षण ही साधना है। अध्यात्म जीवन का विज्ञान है।........

शरीर का जैवविज्ञान की दृष्टि से जीवित रहना, तरल, स्फूर्तिमय, संवेदनशील रहना, जीवन जीने का माध्यम अवश्य है, किन्तु जीवन केवल उसी में सीमित नहीं। शरीर का ज़िन्दा रहना ही जीवन जीना नहीं। एक सम्पूर्ण समग्र कर्म है जीवन जीना, और वही साधना है। जीवन-कर्म की समग्रता साधने के लिये, जीवन का 'चरम सत्य' समझना होता है, उस सत्य-बोध के लिये तनु-मन-बुद्धि-वाणी को शिक्षण देना होता है, और यह स्वशिक्षण किसी देश, समाज-परिवार एवं निसर्ग के सम्बन्धों के बीच रहते हुए ही लिया जा सकता है; यह स्वशिक्षण का पुरुषार्थ स्वयं को ही करना होता है। कोई किसी के लिये न भोजन कर सकता है, न सांस ले सकता है, न जीवन जी सकता है।"

मराठी प्रवचन में से अनूदित] [—विमल-वाणी

"व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः।
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ॥"

[पदार्थों (व्यक्ति-हृदयों) को विशेष रूप से अतिशय जोड़ देने वाला कोई भीतरी ही कारण होता है; प्रीति कभी बाहरी किन्हीं निमित्तों पर निर्भर नहीं होती ।]

—भवभूति

"न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीर् अपुनर्भवं वा, समञ्जस ! त्वां विरहय्य कांक्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगा स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष ! दिदृक्षते त्वाम् ॥"

[हे सर्वतोरमणीय ! कमलनयन ! प्रेमस्वरूप प्रभो ! तुम्हारे सिवा मुझे कुछ भी चाह नहीं ! न स्वर्ग, न ब्रह्मापद, न सम्पूर्ण भूमियाँ, न पूरे भूमण्डल का साम्राज्य, न योगसिद्धियाँ, न मोक्ष ही ! कुछ भी नहीं चाहिए । बस, सदा-सर्वदा-सतत तुम्हें देखना चाहता है हृदय—उसी उत्कट चाह से—जैसे नन्हें पक्षि-शावक (जिनके पंख भी नहीं उगे हैं) अपनी माँ को चाहते हैं नन्हें भूखे बछड़े अपनी माँ का दूध चाहते हैं, या जैसे सुदूर गये प्रिय को प्रीतिविधा हृदय चाहता है ।]

— श्रीमद्भागवत

"देव ! दान देना यही ! तुझे न बिसरूँ कभी कहीं !
न चहूँ भुक्ति-धन-सम्पदा ! सन्त-सङ्ग देना सदा !!

[मराठी से अनूदित]

—तुकाराम

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम !
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम !!
धर्म न अर्थ न काम रुचि, चहउँ न पद निर्वाण ।
जन्म-जन्म रति राम पद, एहि वरदान न आन ॥
बार-बार वर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरङ्ग !
पदसरोज अनपायिनी भक्ति, सदा सत्सङ्ग !!

* * * *

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर !
चितइ कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर !!
जौं घन बरषइ समय सिर, जौं भरि जनम उदास ।
तुलसी या चित चातकहिं तऊ तिहारी आस ॥

—तुलसीदास
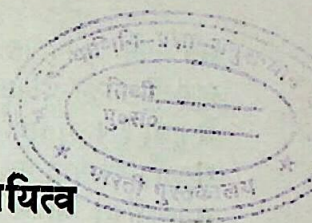
'लोक'-धर्म-पालन का दायित्व

विमला

अध्यात्म है समग्र जीवन को एक नई दृष्टि से देखना। अध्यात्म है भूत-मात्र, सृष्टि के कण-कण और प्राणिमात्र में जो एक सार्व-भौम सत्ता है, उसका भान जनता में जगाना। यह अध्यात्म जन-विमुख नहीं हो सकता, जीवन-विमुख नहीं हो सकता।

......अभी भजन गाया जा रहा था—"किसका धरूँ मैं ध्यान !"

भाई ! नर में बसते नारायण का ध्यान धरिये।
जनता में विहँसते जनार्दन का ध्यान धरिये॥

जो जीवन से भाग जाने की, जीवन से मुँह मोड़ लेने की बात करता है, वह वैदिक दर्शन नहीं है, वह भारतीय संस्कृति नहीं है, वह अध्यात्म नहीं है। इस देश की संस्कृति जीवनपरायण संस्कृति है पदार्थपरायण नहीं; यह संस्कृति न भोगवादी है न त्यागवादी। यहाँ तो रससेवन में ही जीवन देखा गया है। प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक घटना में, प्रत्येक परिस्थिति में उसके रस का सेवन करना सिखाया गया है। यह जीवनरसिकों की संस्कृति है, क्योंकि हमने परमात्मा को ही रसेश्वर माना है ("रसो वै सः") वही परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ वर्णन है। सम्पूर्ण सृष्टि में जिसका रस भरा है, नक्षत्रों में से जिसका रस झरता है, मनुष्यों की आँखों की ज्योति में-नूर में जिसका रस झलकता-छलकता है। परमात्मा की उस रसमयी सत्ता के उपासक रहे हैं यहाँ के ऋषि-मुनि-संन्यासी-सन्त-फ़कीर-पीर-पैगम्बर सभी !

उस संस्कृति के बारे में बोलने का यह अवसर नहीं; फिर भी उसका उल्लेख इसलिये करना पड़ा कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद, इस देश में एक बड़ा दुष्कर्म हुआ है—भारतीय संस्कृति ने जो एक जीवनदृष्टि दी थी—रसपरायणता की, उसको छोड़कर जो पदार्थवादी-उद्दाम भोगवादी अभारतीय उच्छृंखल संस्कृति पश्चिम के देशों में थी

उसे हमने अपने पर हावी होने दिया, अपनी संस्कृति की जड़ें हम खुद ही काटने बैठ गये। यह एक भयङ्कर राष्ट्रीय दुष्कर्म हमारी दृष्टि से हुआ है। मैं धर्मों की बात नहीं कर रही हूँ। मैं अध्यात्म की और संस्कृति की बात कर रही हूँ, जिसने प्राकृत मनुष्य, देही, प्राणी में से सुसंस्कारित मानव खड़ा करने का पुरुषार्थ किया था। संस्कृति एवं शिक्षण का अर्थ ही है शुभ संस्कारों का सिञ्चन। मनुष्य के भीतर (पशुता का शेषांश) जो कुछ अशुभ वृत्ति एवं आदतें पड़ी होंगी, उन सबके निराकरण के लिये शुभ संस्कारों का सिञ्चन करना—यह शिक्षण का हार्द है। आज़ादी के बाद यह हम भूल गये, और बहुत दूर भटक गये।

दूसरा बड़ा राष्ट्रीय दुष्कर्म हुआ है—गाँधी जी को भुलाया जाना! गाँधीजी एक महान् जीवनसाधक इस देश में हुए, जिन्होंने आत्मबल से सत्य-अहिंसा एवं अस्तेयादि मानवीय जीवन मूल्यों को राजनीति में अर्थनीति में शिक्षणनीति में दाखिल करने का भगीरथ पुरुषार्थ किया था। उन्हें एक नये भारत का निर्माण करना था जो भारत सत्य-अहिंसा आदि एकादश व्रतों के खम्भों पर कृषि एवं ग्रामोद्योगों के उपादान से बनना था; जहाँ सत्ता के केन्द्र भारत के पाँच लाख गाँव होने वाले थे, दिल्ली, गाँधीनगर, लखनऊ, पटना जैसे शहर नहीं। ऐसे लोकतन्त्र का वे निर्माण करना चाहते थे जहाँ संविधान द्वारा दी गयी सार्वभौम सत्ता भारत का जन सामान्य-'लोक'-उपयोग में ला सके। गाँधीजी का सपना था कि गाँव होंगे गणराज्य, और भारतराष्ट्र होगा गणराज्यों का महासंघ। ("The free India of my dream will be federation of village-Republics.")

उन्होंने एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन दिया था। लोकतन्त्र को उन्होंने सत्य-अहिंसा पर आधारित करके एक आध्यात्मिक अधिष्ठान देने का प्रयत्न किया था। उन्होंने कृषिमूलक ग्रामोद्योग-प्रधान मानवनि[illegible] अर्थनीति एवं अर्थव्यवस्था की बात की थी। जिसको आज लो[illegible] विकेन्द्रीकरण के नाम से पहचानते हैं, वह शासन के सत्ता के [illegible] अर्थतन्त्र के विकेन्द्रीकरण की बात नहीं है; महज सत्ता का केन्द्र बदल[illegible] है, उद्योगों का, और औद्योगिक क्रान्ति का स्वरूप बदलना है; रा[illegible]

नीति एवं अर्थनीति में मानवनिष्ठता एवं समग्र दृष्टि (Wholistic approach to Politics and Economics) लानी है। ऐसा कहने वाले व्यक्ति का जीवनदर्शन हमने भुला दिया। और हम उत्तान भोगवादी, सङ्कीर्ण भौतिकतावादी संस्कृति के जीवनमूल्य जीवनपद्धति एवं दृष्टिकोण अपनाते चले गये। जिसका परिणाम आज चालीस वर्षों के बाद हमारे सामने है।

आज चौतरफ़ा भ्रष्टाचार भारत के सभी जीवन-क्षेत्रों को ग्रास किये हुए है। भौतिकवाद को ही सही दर्शन मान लेने के भ्रम में से और भोगवादी मनोविज्ञान के विकास में से—उपजा है भ्रष्टाचार का पराकाष्ठा तक विकृत हुआ स्वरूप, जो आज देखने में आ रहा है।

पिछले २५ वर्षों में से (प्रतिवर्ष के प्रवासों को जोड़ कर) लगभग १२-१३ वर्ष का समय मेरा विदेशों में बीता है। (उसमें दक्षिण अमेरिका के—चिली, अर्जेन्टीना, ब्राज़ील, पेरू, कोलम्बिया, लीविया, उत्तरी अमेरिका के—यू० एस० ए०, कॅनॅडा...... । पूर्व योरोप के—पोलेन्ड, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया) विश्व गोलक के चारों तरफ़ के करीब ५० देशों में जाना होता रहा है। पर जितना भ्रष्टाचार मैं इस तथाकथित धार्मिक देश में देखती हूँ, जितना पाखण्ड, कायरता और भीरुता इस देश में देखती हूँ,—उतना मुझे विश्व के अन्य किसी भी देश में देखने को नहीं मिला, चाहे वे लोकतान्त्रिक देश हों, चाहे तानाशाही वाले हों, चाहे साम्यवादी-समाजवादी देश हों या धर्माधारित देश हों। यह मैं कोई आलोचना की दृष्टि से नहीं कह रही हूँ। मैं तो घर में बैठी हूँ अपने भाइयों से बात करने। परिस्थिति की यथार्थता और गम्भीरता को देखने की हमारी आँख खुले—इसीलिये यह उल्लेख कर रही हूँ।

यह जो भ्रष्टाचार-शोषण, अनाचार, अन्याय, पाखण्ड-एवं प्रमाद देखते हैं जनजीवन में, यह मृत्युपरायणता है। गजब है! ८० करोड़ लोग यदि आपस में एक दूसरे का शोषण करने में ही उलझ जायें, तो कहाँ जिये लोकतन्त्र? कहाँ आये स्वराज्य? और कैसे टिके स्वाधीनता? शोषण-परायणता हमारे अर्थतन्त्र का एवं राजनीति का स्वरूप बन गया है; उसी के कारण अन्याय-अधर्म का बोलबाला है।

आज जो विद्यमान परिस्थिति है इसका वर्णन करने हम यहाँ नहीं बैठे हैं। सभी जानते हैं कि राजनीति-अर्थनीति में, प्रशासन में जन-जीवन में, शिक्षण क्षेत्र में धार्मिक मठ-मन्दिरों-मस्जिद-गुरुद्वारों तक में शोषण, भ्रष्टाचार, अन्याय, पाखण्ड घर कर चुका है। ऐसे वातावरण में आप-हम मिल रहे हैं; केवल बातें करने या एक दूसरे की प्रशंसा करने के लिये नहीं। क्या इस परिस्थिति में से बाहर निकला जा सकता है? क्या इसके लिये हम सङ्कल्प करेंगे? क्या इसमें से निकलने की हमारी तैयारी है? उसके लिये जो कीमत चुकानी पड़ेगी जो बलिदान देना पड़ेगा—वह देने की क्या हमारी तैयारी है?—यह सामूहिक चिन्तन करने के लिये एवं इसमें से कोई निष्कर्ष निकाले जा सकें तो वह करने के लिये हम इकट्ठे हुए हैं। मुझे कोई अधिकार नहीं है राजनैतिक-आर्थिक समस्याओं पर बोलने का। लेकिन आध्यात्मिक व्यक्ति समग्र जीवन का चिन्तन करता है, जीवन का कोई एक भी पहलू उसके चिन्तन में से छूट नही सकता। उसी नाते मैं आपके साथ बैठी हूँ।

(पाकिस्तान की घटना से प्रसन्नता है कि बेनज़ीर भुट्टो-३५ वर्ष की युवती, कैन्सर से पीड़ित उसकी माँ, इनकी पीपलसपार्टी—ने अत्यधिक प्रतिकूलताओं के बावजूद भव्य सफलता प्राप्त की। मुस्लिम देश में एक नारी की यह सफलता देख कर मुझे प्रसन्नता होती है। आप सबकी साक्षी में मैं उनका हृदयपूर्वक अभिनन्दन करती हूँ। हम चालीस वर्ष में भी अपने पड़ोसी देश के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाये इसका बड़ा रंज व गम हमारे दिल में है।)

अब हम अपनी राष्ट्रीय परिस्थिति को देखें। क्या किया हमने चालीस वर्ष पहले, बल्कि उससे भी पहले, जब हमारा संविधान बनाया गया? एक बड़ा भारी कदम उठाया गया कि हमने लोकतन्त्र को चुना। जहाँ पूँजीवादी, एवं सामन्तशाही वाला मानस था, जीवन के प्रति दृष्टिकोण साम्राज्यवादी था (Capitalist mind and Feudalist attitudes and approaches to life) जीवन-पद्धति जातिवादी-सम्प्रदायवादी थी, ऐसे विविधता-सङ्कुल देश में हमारे दूरदृष्टि रखने वाले नेताओं एवं राष्ट्रहित-चिन्तकों ने (जिनमें मौलाना आज़ाद, राजगोपालाचारी, एच० बी० कामत, नेहरू, सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, दादा धर्माधिकारी कितनों के नाम गिनाऊँ किन के छोड़ूं?)—

बैठकर भारत में लोकतन्त्र बनाने का सङ्कल्प किया। यानी शासन एवं व्यवस्था लोक की हो; सम्पूर्ण सत्ता लोक के हाथ में हो।

(The Government of the People, for the People, by the People).

यानी ऐसी सरकार बने जो लोगों की हो, लोगों के लिये हो, और लोगों की मार्फत वह बने एवं कार्य करें। तब पक्षतन्त्र की बात नहीं सोची गयी थी।

पक्षतन्त्र लोकतन्त्र नहीं है। पक्षों की आवश्यकता अवश्य है लोकतन्त्र के लिये, पहले तो 'लोक' का निर्माण करने के लिये है! मित्रों! लोकतन्त्र का आशय है राजनीति में अहिंसा का अमल (Application of nonviolence is Democrasy.) लोकतन्त्र है लोगों की सम्मति से कानून बनाकर कानून का राज पैदा करना। किसी राजा का नहीं, किन्हीं राजनैतिक पक्षों का नहीं, लोकसम्मति से बनाये गये कानून का राज। ऐसी परिस्थिति निर्माण करना कि लोग स्वयं स्वशासन-क्षम बनें! किसी ऊपरी 'शासक' की आवश्यकता न रहे। लोकतान्त्रिक जीवनपद्धति और लोकतान्त्रिक शासन कोई शासकों या शासन व्यवस्था का एकाधिकार नहीं।

(It is not administrative manipulation. Democrasy is a way of life. It is applieng non-violence to political and economic issues.)

यह तो था लक्ष्य! और चालीस वर्षों में हम कहाँ पहुँचे हैं?—जनविरोधी अर्थतन्त्र एवं जनविरोधी शासन लाये हैं। चाहते थे लोकतन्त्र एवं लोक का निर्माण। हुआ है विपरीत ही। आज जो प्रशासन ही कुशासन या दुःशासन बन जाने की परिस्थिति खड़ी हुई है, उसको हटा सके ऐसा 'लोक' यहाँ बनाया ही नहीं गया। मनुष्यों की भीड़ 'लोक' या जनता नहीं है। भीड़ में से जनता तब बनती है जब प्रत्येक नागरिक को यह मालूम रहे कि संविधान ने उसको कौन से अधिकार दिये हैं? और कौन सी जिम्मेवारियाँ दी है! तभी स्वशासन-क्षमता आती है। केवल अधिकारों की बात से भी लोकतन्त्र नहीं बनता, प्रबल भीड़तन्त्र (Mobocrasy) बनता है। लोकतन्त्र एक अनुशासन का विज्ञान है, एक प्रशासन का विज्ञान।

हम अनुशासन एवं प्रशासन नहीं चला पाते क्योंकि उसके गति-विज्ञान (Dynamics) का अध्ययन व अभ्यास हमने नहीं किया है, कि कैसे शासन किया जाय ? सत्ता का उपयोग लोगों के लिये कैसे किया जाय ? हाथ में सत्ता आते ही हम मान बैठे कि उसका अपने लिये, अपनों के लिये उपयोग करना—यही स्वराज है ! ऐसा नहीं; सत्ता भी सेवा का साधन है; सत्ता भी समाज-परिवर्तन का साधन है ।—यह समझा जाय, समझाया जाय, अमल में लाया जाय, तभी आज की दुरवस्था मिटेगी । खामी लोकतन्त्र में नहीं; तन्त्र सभालने व चला सकने वाले 'लोक' का निर्माण करना बाकी है, वह करना पड़ेगा । लोग अपने अधिकार (सामाजिक और राजनैतिक) जानें, साथ ही आई जिम्मेवारियाँ भी समझें, उन जिम्मेवारियों को निभाने की शक्ति लोगों में विकसित हो, लोग स्वयं अनुशासित हों, तब ही प्रशासन संभाल कर स्वशासन-क्षम बन सकेंगे । लोक की वह शक्ति संगठित हो जाय । (१) जनजागृति हो, (२) जनसंगठन हो और (३) उस संगठित शक्ति का संवैधानिक विनियोग हो—ये तीन काम जब होते हैं, तभी लोकतन्त्र सफल हो सकता है ।

दूसरी बात, इस लोकतन्त्र की मार्फत हम देश को रामराज्य या लोकस्वराज्य की ओर ले जाना चाहते थे, जो भागीदारी वाला जनतन्त्र निर्माण करना चाहते थे, वहाँ तक हम क्यों नहीं पहुँचे ? क्योंकि हमने पश्चिम से उद्योग की नीति व पद्धति भी उधार ले ली, या अपना ली कि उत्पादन उद्योग-केन्द्रित हो; उत्पादन के साधन या तो बड़े पूँजीपति व्यक्तियों के हाथ में हों या सरकार के हाथ में रहें, उत्पादन एवं उत्पादनसाधनों के स्वामित्व का केन्द्रीकरण अपनाया गया । उद्योग शक्ति का, उत्पादनसाधनों का, पूरी अर्थव्यवस्था का केन्द्रीकरण हो गया (Centralised economy) इससे राज्यशक्ति बढ़ती गयी । लोकतन्त्र के लिये तो राष्ट्र की शक्ति बढ़नी चाहिये थी एवं राज्य की शक्ति क्षीण होती जानी चाहिये थी । लोकतन्त्रवादी कहते हैं—That government is the best which governs the least. या तो राजतन्त्र क्रमशः समाप्त ही होना चाहिये वाली बात ले लीजिये, साम्यवादी-समाजवादी आदर्श ले लीजिये, मूल बात वहीं आती है कि राष्ट्र की शक्ति-लोक शक्ति बढ़े, राज्य की शक्ति घटे ।

वह नहीं हुआ, बल्कि राज्यशक्ति भी केन्द्रित होती चली गयी। इसलिये आज हमारे सामने बहुत बड़ी चुनौती है—सत्ता का विकेन्द्रिकरण नहीं, बल्कि सत्ता का केन्द्र बदलना। सत्ता का केन्द्र दिल्ली में न हो, पाँच लाख गाँवों में हो। सत्ता के केन्द्र ग्राम-पंचायतें बनें, यह नहीं कि दिल्लीवाले सत्ता के छोटे-छोटे टुकड़े बाँटते चले जायँ। सत्ता के केन्द्र ही बदलने चाहिये। लोगों को पता चले कि सार्वभौम सत्ता उनमें खुद में हैं—The supreme power rests in the people. उसकी घोषणा संविधान में की गयी है। इस देश का संविधान स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है। उसकी प्रस्तावना एवं आमुख अद्भुत है। दुनिया में बहुत ही कम ऐसे संविधान और ऐसे आमुख देखने को मिलेंगे।

उसमें दोष नहीं है; दोष हमसे हुआ कि हम उसे बरत नहीं सके, उस पर अमल नहीं कर सके, तन्त्र का दुरुपयोग (abuse and missuse) हुआ। उस अपप्रयोग—दुरुपयोग को हटाना है। वह कैंस करेंगे? क्या करेंगे उसके लिये?

मुझे लगता है कि अपने पास जितना भी समय है, उसमें, देश के जितने समझदार सुशिक्षित एवं बुद्धिजीवी लोग हैं (The intelligencia of the country), जो प्रवुद्ध नागरिक हैं—वे लोकतन्त्र को मानते हों, साम्यवाध समाजवाद को मानते हों या जो भी आदर्श मानते हों, आखिर वे इसी देश के नागरिक तो हैं,—उन्हें इकट्ठे हो कर जन-जागृति के लिये, जनशिक्षण के लिये जल्दी से जल्दी एक जनता का घोषणापत्र (People's Manifest) बनाना चाहिये। राजनीति केवल पक्षों की स्पर्धा तक ही सीमित न रहे, वह राज्य चलाने की व्यवस्था की नीति बने, जनता उसमें शामिल हो जाय। जनता अपनी माँग उसमें रखे, कि "हम चाहते हैं कृषिमूलक ग्रामोद्योग प्रधान अर्थनीति एवं तन्त्र, हम चाहते हैं कि ग्रामोद्योगों के लिये पूरा ढाँचा (infrastructure) खड़ा किया जाय। हम चाहते हैं कि शिक्षणनीति में आमूलाग्र परिवर्तन किया जाय। हमारे देश में तो (स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में) भीतर की दिव्यता को प्रकट करें वही शिक्षण है (Education is the manifestation of the divinity within.) भीतर की चिन्मयी सत्ता को मानवीय सम्बन्धों में उतारने की शक्ति जागृत करने के लिये शिक्षण है। मानवीय सम्बन्धों की मूलभित्ति, नींव और आयाम बदलने के लिये,

इनका गतिविज्ञान (dynamics) बदलने के लिये शिक्षण है। जो, शिक्षण पद्धति अभारतीय संस्कृति के आधार पर खड़ी है, उसको बदलना है।—यह सब कहने का जनता को अधिकार है।

जनता चुनावों के सुधार की माँग भी करै। जे० पी० के नेतृत्व में तारकुण्डे-समिति ने चुनाव-सुधार की माँग की थी, और भी कितनो ही समितियाँ व आयोग इस मामले पर इन १०-१५ वर्षों में बने होंगे; उन सबके निष्कर्ष व प्रमुख मुद्दे लेकर पुनः जनता की ओर से एक माँग की जानी चाहिये कि चुनाव-प्रक्रिया में इतने सुधार अवश्य किये जाँय! चुनाव-पद्धति में सुधार होना ही चाहिये।

यदि चुनाव आयोग की तरफ़ से और सरकार की तरफ़ से यह नहीं होता है तो जनता यह कर सकती है कि प्रत्येक मतदान-क्षेत्र में एक मतदाता समिति या नागरिक समिति बने जो चुनावों की निगरानी-समिति (Vigilence committee) रहेगी। चुनाव शान्तिमय हो, किसी को डराया-धमकाया न जाय। ग़रीब से ग़रीब और निरक्षर नागरिक भी मुक्तता से जाकर मतदान कर सके, इसकी निगरानी यह समिति करे। मतदान चाहे विधान सभा का हो, चाहे लोकसभा का हो,—नागरिकों की यह निरीक्षक समिति बने, जिसके प्रतिनिधि चुनावस्थल पर आकर बैठें। इन समितियों की जानकारी सरकार में एवं प्रमुख चुनाव आयोग में रहे।

ये समितियाँ यदि जल्दी से जल्दी बनाली जाती हैं, जनता का घोषणापत्र बन जाता है तो अपने प्रदेश में एक चुनावशुद्धि-सेवा दल खड़ा किया जा सकता है। नाम कुछ भी दें, लेकिन ऐसा एक स्वय सेवकों का दल बने जो चुनाव-प्रचार के समय या उससे पहले गाँव-गाँव में घूम कर जनता को उनके अधिकार एवं जिम्मेवारियाँ तथा जनता का घोषणापत्र समझा दे। फिर जनता यह कहे कि हमारे गाँव या क्षेत्र में जितने पक्षों के उम्मीदवारों का प्रचार होने वाला हो, वे सब एक मंच पर आ कर, एक ही सभा में आकर अपनी बात समझायें। ये लोग आपस में गाली-गलौच न करें। हम अपना घोषणापत्र उनके सामने रखेंगे, उन्हें जो बात हमें कहनी हो वे कहें—सभ्य रीति से सभा में बोलें। उम्मीदवार भले अलग-अलग पक्षों के हों, अलग हों, पर जनता तो एक ही है। सब लोग अलग-अलग समय–धन और शक्ति

खर्च क्यों करें ? खर्च तो आखिर जनता से ही वसूल किया जाना है ? ग़रीब देश की ग़रीब जनता पर फ़िज़ूल खर्च का बोझ क्यों बढ़ाया जाय ? अपनी सार्वभौम सत्ता को अमल में लाना जनता को सिखाना है। तब यह नहीं हो सकेगा कि राजनैतिक पक्षों के प्रचारक दिन में रात में मौका देखकर गाँवों में जाकर कहीं शराब लुटा कर तो कहीं बर्तन-कपड़ों की खैरात बाँट कर, कहीं मौखिक वादे-झाँसे देकर, कहीं गुण्डों के गिरोहों द्वारा डरा-धमका कर लोगों के मतों को खरीदें, लूटें, झपटें ! यदि चुनाव-प्रचार आरम्भ होने से लेकर चुनाव होने तक के ५-६ सप्ताह निरीक्षक समिति और उसका यह स्वयंसेवक-दल गाँवों में घूमते रहते हैं तो आगामी चुनावों में बहुत सी बुराइयों से अपने आपको बचाया जा सकता है।

जनता का घोषणापत्र बहुत सरल भाषा में बनाया जाय, जिसे आम आदमी समझ सके, और गाँवों के लिये तो गाँव की बोलियों में उस घोषणापत्र का अनुवाद करके छपा कर पढ़ा जाय और समझाया जाय। उसमें जनता की माँग रखी जाय कि हम अर्थतन्त्र का स्वरूप, उद्योग-नीति का स्वरूप बदलना चाहते हैं। घोषणापत्र के साथ संकल्पपत्र भी हो कि "हम हमारे गाँव में मतों को खरीदने-लूटने का धन्धा नहीं चलने देंगे। चुनाव के नाम से सम्प्रदायवादी और जातिवादी प्रचार हम अपने गाँव में नहीं करने देंगे। कोई मारपीट-हत्या-हिंसा हमारे गाँव में नहीं होने देंगे।—यह होता है तो बहुत बड़ी बात होगी।

आज की संसदीय-लोकतान्त्रिक व्यवस्था पक्ष-पद्धति पर टिकी है। जब कभी नागरिकों के हितविरोधों को बल देने वाली अर्थनीति और राजनीति से समाज मुक्त होगा, हितविरोध नहीं रहेगा, तब शायद पक्षपद्धति की आवश्यकता नहीं रहेगी और विधानसभा लोकसभा के चुनाव पक्षमुक्त भी हो सकेंगे। पर आज वह सन्दर्भ नहीं है। वैसा सन्दर्भ ग्रामपंचायतों और नगरपालिकाओं के लिये निर्माण कर सकते हैं, और आने वाले ५ वर्षों में वह होना चाहिये कि ग्रामपंचायतों, सहकारी संस्थाओं और नगरपालिकाओं के चुनाव पक्षमुक्त हो सकें। लेकिन आज की वास्तविकता Realistic approaeh यह है कि अभी तो विधानसभा-लोकसभा के चुनाव पक्षपद्धति से होंगे ही; उसका विरोध

करने से कुछ बनने वाला नहीं। चिन्तन वस्तुनिष्ठ होना चाहिये और कार्यक्रम परिस्थिति सापेक्ष होना चाहिये।

अतः नागरिकों से यह कहा जाय कि आप जिस भी राजनैतिक पक्ष के सदस्य हों, उस पक्ष को कहिये कि किसी गलत आदमी को उम्मीदवार न बनायें। भ्रष्टाचारी, दुश्चरित्र एवं गुण्डागर्दी से काम करने वाले व्यक्ति को आप पर थोप न दिया जाय---इतनी तो प्रबल माँग रखिये ही!...यह केवल व्यथा का नहीं, बहुत बड़े दुःख, खेद और लज्जा का विषय है कि जिन पर फौज़दारी के, हत्या तक के आरोप होते हैं वे लोग जाकर विधानसभा में बैठते हैं। वे बैठ पाते हैं क्योंकि मतदाता खामोश है। अपने क्षणिक स्वार्थ, सुविधा, राहत या महत्त्वाकांक्षा के कारण मतदाता यह होने देता है। नहीं तो केवल पक्षों के मुट्ठी भर लोग क्या कर लेंगे? भारत की जो जनता ब्रिटिश हुकूमत से लड़ सकी, उन्हें अपने ही भाइयों—जो पक्षों के पदवीधर बन के बैठे हों, या सत्ताधिकार में हों, उनके—सामने दीन-हीन बनने की क्या आवश्यकता है? हम तो आध्यात्मिक-धार्मिक लोग हैं न! मन्दिरों में जाते हैं, गीता-भागवत-रामायण सुनते-पढ़ते हैं, सन्तों के भजन गाते हैं—और इतनी कायरता?

आचार्य कृपलानी जी के पास १९८५ के अन्त में एक बार जाना हुआ था। मैंने कहा—"दादा! इस देश का क्या होगा? कितना भ्रष्टाचार बढ़ गया है?" दादा बोले—"यह कहो कि लोग कितने कायर बन गये हैं? कायर लोग ही खुद अत्याचारियों को पैदा करते हैं। Cowards create their own bullies"........सच ही, मित्रो! अन्याय-अत्याचार-अधर्म करने वाले उतने गुनहगार नहीं, जितने कि इस सबको सहन करने वाले गुनहगार हैं। क्योंकि अन्याय-अत्याचार करने वाले गिनती में थोड़े हैं, सहन करने वाले ज़्यादा हैं!

अतः नागरिकों से कहा जाय कि आपके पक्ष के लोग यदि ग़लत उम्मीदवार खड़े करते हैं तो आप वहाँ विरोध करो, और ज़ोर दो कि सही उम्मीदवार खड़े किये जायें, सम्प्रदायवाद, जातिवाद, गुण्डावाद चुनाव में न चलने पाये-इसका ध्यान व तहकीकात नागरिक-निगरानी समितियाँ रखें। राजनैतिक पक्षों में भी तो सज्जन व्यक्ति होंगे ही। ऐसा नहीं कि पक्षों वाले सब भ्रष्ट हैं, और पक्षों से बाहर के सब दूध के धुले हैं।

सर्वोदयी मित्रों से हमारा स्नेह है, गाँधी जीवन दर्शन तो मेरा प्राणतत्त्व है। लेकिन परिस्थिति से आँख मूँद कर समाज-परिवर्तन नहीं हो सकता। अतः पक्षों के सदस्य रहते हुए भी नागरिक इतना पुरुषार्थ तो कर ही सकते हैं कि अपने-अपने पक्ष के सर्वोत्तम उम्दा व्यक्तियों, सन्निष्ठ नागरिकों, समाजसेवी, चारित्र्यवान् लोगों को ही उम्मीदवार बनवायें, इसके लिये पक्षों में ही सत्याग्रह करने पड़ें तो किये जायें।

चुनाव लोकशिक्षण के पर्व बनें, राजनैतिक पक्षों के "धींगामस्ती" के अवसर नहीं; चुनाव जनता के स्वाधिकार को अमल में लाने के उत्सव बनें। (Not festival of the parties but festival of the people.) आज तो चुनाव के नाम पर राजनीति को अपराधों की खुली छूट की तरफ़ ले जाया गया है। जेलों में से हत्यारे गुण्डों तक को छुड़ा कर राजनैतिक पक्षों के चुनाव प्रचार में लगाया जाता है; और मतदाताओं से लेकर उम्मीदवारों तक के अपहरण-हत्याओं तक की वारदातें होती हैं। तब गुण्डे स्वाभाविक ही सोचने लगते हैं कि "जब हमारी मदद बिना इनका काम नहीं चलता तो हम ही क्यों न उम्मीदवार बन कर खुद चुने जायें? हम मेहनत करके दूसरों को क्यों जितायें?"

चम्बल घाटी में डाकुओं ने आत्मसमर्पण किया तब मैं चम्बल घाटी में घूमी हूँ। जिस दिन वह आत्मसमर्पण का काम हुआ उस दिन (नाम नहीं लूँगी कि किस प्रदेश के थे) एक I. G. P. के साथ उन बागियों ने हाथ नहीं मिलाया। तब उनसे पूछा गया कि आप इन पुलिस अधिकारी से हाथ क्यों नहीं मिलाते? तो बाग़ी भाई बोले—"इससे ही पूछिये कि क्यों हम हाथ नहीं मिलाते। कितने सालों से यह हमारा वेतन खा रहा है? यह सरकारी अफ़सर है, लेकिन हमसे हर महीनें कितना पैसा लेता था—यह इन्हीं से पूछो? इनसे क्या हाथ मिलाये? हम आत्मसमर्पण तो जयप्रकाश जी के चरणों में कर रहे हैं! इनके हाथ में तो नहीं।"

यानी कि तथाकथित गुण्डों के दिल में सरकारी अफ़सरों की यह कीमत रह गयी है! ऐसी हालत में नागरिक ही राजनैतिक पक्षों की इज्जत बचा सकते हैं यह बल देकर कि ग़लत लोग उम्मीदवार न बनाये जायें और चुनाव प्रचार में ग़लत हथकण्डे न अपनाये जायें।

यदि पक्षों पर भरोसा ही न रहा हो, या पक्ष आपकी बात पर राज़ी न हों, पक्षों की मुख्य समिति मानती न हो, तो वे नागरिक अपना अपक्ष उम्मीदवार खडा करें। वे जनता के जनमत (consensus) के उम्मीदवार होंगे।

करने लायक काम और विकल्प तो अनेक हैं; वह करने की हमारी अपनी तैयारी है या नहीं? कितनी तैयारी है? इसे सोचें। गाँधीजनों से लेकर जो सामान्य नागरिक है इस देश का (किसी भी पक्ष का हो या न हो) सबकी सामान्य हालत यह है कि हम सुविधावादी और सुरक्षावादी बन गये हैं। अपनी छोटी-छोटी सुविधाओं को कहीं नुक्सान तो नहीं पहुँचेगा? हमारी आर्थिक सुरक्षा को, प्राणरक्षा को कहीं आँच तो नहीं आयेगी? इसका भय रहता है हमें। एक जमाना था जब इस देश के नागरिक स्वाधीनता के लिये लाठी-गोली झेलने को तैयार थे। पता नहीं इन चालीस वर्षों में हमें क्या हो गया? भोगवादी जीवन-पद्धति के कारण, भोगवादी राजकीय संयोजनों के कारण, पदार्थवादी संस्कृति हावी होने के कारण, मानस इतना भीरु हो गया है, कि मैं यदि अलग ढंग का या सरकारी चलन के विपरीत कुछ करता हूँ तो मेरा क्या होगा? मेरे परिवार का क्या होगा? नुकसान तो नहीं होगा? किसी की नौकरी तो नहीं जायेगी?……यदि किसी संस्था में हैं चाहे, वह संस्था खादी-ग्रामोद्योग या नई तालीम आदि गाँधी दर्शन के रचनात्मक कार्यों की हो, तब भी लोग सोचते हैं कि "यदि मैं भ्रष्टाचार का विरोध करूँ, किसी ग़लत व्यक्ति के खिलाफ़ कुछ कहूँ—तो मेरी संस्था का क्या होगा? इसकी "ग्रान्ट" (सरकारी अनुदान) बन्द हो गई तो? हम पर कोई दबाब आया हो?"

अन्य राजनैतिक पक्षों और सत्ताधारी पक्ष के भ्रष्टाचार की बात करना बहुत सरल हो गया है, लेकिन हमारे भीतर जो कीड़ा पड़ा हुआ है, जो चोर छुपा हुआ है, उसे पकड़ें। यदि उस भीरुता को छोड़ने का साहस नहीं है तो उस भय-स्थान से बचते हुए जो कर सकते हों वही करने में सन्तोष मानें। पर मन में यह न सोचते रहें कि कोई अतिमानवी शक्ति आकर समस्या हल कर देगी। बने-बनाये माल की आशा छोड़ दें; समस्या विकराल होने दी है हमने, तो इस भीरुता की कीमत भी चुकानी पड़ेगी।

लोकतन्त्र को बचाने के लिये कीमत चुकाने की जिनकी तैयारी है उन्हें आगे आना होगा। यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र को क्षीण करने के, स्वैच्छिक सहकारी संस्थाओं की शक्ति क्षीण करने के और राज्यसंस्था का विस्तार बढ़ाते जाने के लक्षण प्रकट हो रहे हैं, वह भी ऐसे कि बाहर लोकतन्त्र का खाका खड़ा रहे और भीतर राज्यसंस्था मज़बूत होती चली जाय। आप नाम लेते रहिये गाँधीजीवनदर्शन का और लोकतन्त्र का, लेकिन यथार्थता में सत्ता केन्द्रित होती जा रही है।

आज तो कम से कम हम साथ बैठ कर खुले दिल से ये बातें भी खुले आम कर रहे हैं, कल हो सकता है यह अभिव्यक्ति की स्वाधीनता एवं कुछ आन्दोलन करने की स्वाधीनता भी न रहे, ये सामाजिक-नागरिक अधिकार भी न रहें। इसके लिये 'आपातकाल' लाने की कोई ज़रूरत नहीं, उसके बिना भी यह हो सकता है। जनता के सामने सवाल है कि अल्पकालीन सुविधा-सुरक्षा आदि प्रिय हैं या स्वाधीनता और लोकतन्त्र की रक्षा प्रिय हैं? लोकतन्त्र प्रिय हो तो अभी मौका है। आप राजनैतिक पक्षों के भीतर रह कर या बाहर अपक्ष रह कर भी अपने नैतिक बल का प्रयोग कर सकते हैं। मतदातामण्डल बनाकर, नागरिक-निरीक्षण-समितियाँ बना कर काम करने का मौका है। बीसवीं सदी का यह अन्तिम दशक भारत की राष्ट्र के नाते एकता बची रहने एवं भारत में लोकतन्त्र बचा रहने के लिये बड़ा crucial बीतने वाला है।

यह न समझिये कि सब अन्धकार है। क्योंकि जो कुछ उदारमतवादी (liberal democratic) लोकतांत्रिक पक्ष हैं, जो एकाधिकारवाद नहीं चाहते, बहुपक्षीय लोकतन्त्र बनाये रखना चाहते हैं,—ऐसे लोग इकट्ठे होने लगे हैं। पक्षों का विलयन कोई आसान बात नहीं है। उसमें अहङ्कार टकराते हैं, उन्हें सम्हालना पड़ता है, आत्मसंयम रखना पड़ता है। केन्द्र के उदारमतवादी पक्ष यह करते हुए एकत्र मिल सकें—यह शुभकामना है।

[२०-११-८८, "लोकनिकेतन" जि० पालनपुर में स्थित एक स्वायत्त गाँधीदर्शननिष्ठ शिक्षणसंस्था में युवा-शिविर के अन्तर्गत प्रवचन। इसी के बाद की प्रश्नोत्तरी भी समान-विषयक होने से साथ ही आगे दी जा रही है।—सं०]

सत्संग-प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्वों के संरक्षण व संवर्धन के लिये तथा गांधी विचार की पुनः स्थापना के लिये आज की परिस्थिति में क्या करना चाहिये ?

विमलाजी—यह हम मिलकर सोचें। मैं नेता नहीं, कार्यकर्त्ता नहीं, अपनी चित्तशुद्धि जीवनशुद्धि के लिये, प्रभुभक्ति के लिये जो बन पड़ा वह करती आयी हूँ। एक नागरिक के नाते आपके साथ बैठ कर विचार करती हूँ। ध्यान-समाधि-भक्ति करने से नागरिकता-मानवता मिट नहीं जाती, मिटती हो तो उस अध्यात्म का मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। जिससे नागरिकता-मानवता समृद्ध व परिष्कृत होती हो, अपनी जिम्मेवारियाँ अधिक अच्छी तरह निभाने की शक्ति आती हो, वही अध्यात्म अपने काम का है।

मान लीजिये कि भारतीय संस्कृति और गाँधी-विचार की पुनः संस्थापना-संरक्षण-संवर्धन चाहने वाले लोग हैं। यह चाहने का अर्थ केवल मौखिक-बौद्धिक चर्चा करना नहीं, बल्कि जो अपने राष्ट्र पर फ़िदा हैं, और इसलिये देश के लिये फ़नाह होने में जिन्हें क्षणभर भी सोचना नहीं पड़ता, उनकी चाह सच्ची है। यह नहीं कि "चाहते हम हैं, लेकिन करे कोई !" वह वन्ध्य चाह किसी काम की नहीं। वह इच्छा-आकांक्षा क्या जो सक्रिय न बनायें ?

पहले करना यह होगा कि जितने गाँधीजन आपके प्रदेश में विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों में अलग-अलग लगे हुए हैं वे सब इकट्ठे होकर मिल बैठें, और गाँधी विचार एवं जीवनदर्शन को भारत में स्थायी रूप से जमाने के लिये एक मंच से, एक जीवट (उद्यम) से, एक ही समन्वयी कार्यक्रम (coordinated action) की संगठित योजना बनायें। अपने छोटे-छोटे दायरों में बैठकर अलग-अलग प्रवृत्तियाँ खूब अच्छी तरह चलाते रहेंगे तो भी उससे अपनी समन्वित शक्ति प्रकट नहीं होगी। अतः प्रादेशिक स्तर पर एक-एक गांधीमञ्च (Forum) बनाकर एक-दो

वर्ष का अपना एक कार्यक्रम निश्चित कर लेना चाहिये। प्रारम्भ अपने से ही करना चाहिये।

गाँधीजी तो जीवन-साधक थे। एक मार्मिक घटना है उनके जीवन की। एक बार उड़ीसा में जगन्नाथपुरी में बापू का कार्यक्रम था। कस्तूरबा एवं महादेव भाई भी साथ थे। बापू अपने काम में लगे हुए थे। बा की इच्छा हुई जगन्नाथ मन्दिर में दर्शन कर आने की। महादेव भाई उन्हें ले गये। वहाँ बा ने एक रुपया दक्षिणा चढ़ा दी।.........एक तो वह मन्दिर हरिजनों के लिये खुला नहीं था फिर भी बा दर्शन करने गयीं, और फिर दक्षिणा भी चढ़ाई! महादेव भाई साथ रहे। मन्दिर से लौट कर पड़ाव पर गये तब बापू को पता चला। शाम की प्रार्थना सभा में सबके बीच बापू बोले "आज मैं बहुत दुःखी हूँ कि कस्तूरबा ने राष्ट्र की चोरी की है। इसका पति कुछ नहीं कमाता; और यह जा कर मन्दिर में एक रुपया दक्षिणा रख कर आयी है। यह एक रुपये की चोरी की है इसने। इस बात पर एक दिन का उपवास किया बापू ने। महादेव भाई को दण्ड हुआ सो अलग, कि "जिस मन्दिर में हरिजनों को प्रवेश नहीं, वहाँ तुम गये कैसे?" और बा के एक रुपये दक्षिणा देने को राष्ट्र की चोरी कहा।

और एक घटना कहूँ। एक बार देवदास का छोटा बेटा अपने स्कूल के और बच्चों के साथ छुट्टियों में दिल्ली जा रहा था। उन बच्चों में आश्रम के भी कुछ लड़के थे। ये सब जाते समय बापू को प्रणाम करने गये। बापू तो बड़े ज़बर्दस्त व्यक्ति! वे केवल राष्ट्रपिता नहीं, मानव जाति के पिता थे। बच्चों को पूछा—"क्यों रे, बा ने साथ में खाने को क्या दिया?" बच्चों की खाने की झोली देखी। सब बच्चों की झोली में चने-मूँगफली थे, और देवदास के बेटे की झोली में दो चार लड्डु थे। बस तुरन्त बुलाया 'बा' को। कहा—"सब लोग तुझे बा और मुझे बापू कहते हैं, और तुमने सब बच्चों को चना-मूँगफली दिये और इसे चार लड्डु दिये? यह तुम्हारा पौत्र है तो क्या और बच्चे पौत्र नहीं हैं? वे तुम्हारे अपने नहीं हैं? वहीं वे लड्डु निकाल कर सब बच्चों में बाँट दिये गये, उस झोली में भी वही चना-मूँगफली डाला गया—तब जाकर बापू को शान्ति हुई।

इस तरह स्वयं से आरम्भ करना पड़ता है, तब दूसरों से कुछ कहने का अधिकार आता है। अतः गाँधी संस्थायें यह सोचें कि क्या हमने अपने यहाँ गाँधी-जीवनदर्शन को संरक्षित रखा है ? या उन मूल्यों को किसी न किसी हद तक तोड़ा है ? आत्मनिरीक्षण करना पड़ता है। यदि संस्था बड़ी करने के मोह में, या जल्दबाजी में, या किसी मजबूरी के साये में उन मूल्यों को तोड़ा होगा—तो चलो अब उसका प्रायश्चित्त कर लें। स्वयं गाँधीजी भूल का तुरन्त स्वीकार करके प्रायश्चित्त कर सकते थे, तो हम क्यों न करें ? हमसे क्या भूल नहीं हो सकती ? क्या हम गाँधी जी-विनोबा जी-जयप्रकाश जी से बड़े हो गये हैं ?

अतः पहले तो मिल-बैठकर सोचें कि गाँधीजीवनमूल्यों को हमने कहाँ-कहाँ तोड़ा है ? क्यों तोड़ा ? उसकी मीमांसा करके प्रायश्चित्त करें। फिर, जिन मूल्यों को तोड़ा है, उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये जो कीमत चुकानी पड़े वह चुकाने को तैयार रहें। प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है और शक्ति जागती है। आज गाँधी संस्थायें निस्तेज, निष्प्राण, बलहीन हो गयी हैं, उनका आत्मविश्वास लौट आयेगा जब इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करके सामुदायिक प्रायश्चित्त करेंगे। भूल नहीं होती ऐसा मनुष्य नहीं, और सत्ता- सम्पति की माया प्रबल होती ही है।

फिर यह देखें कि किन कारणों से हमें अपने मूल्य तोड़ने या छोड़ने पड़े थे ? प्रशासन की किस अड़चन के कारण मजबूर होना पड़ता है ? उसका प्रतिकार करना चाहिये, कि इन कानूनों के कारण गाँधीजीवन-मूल्यों को तोड़ना पड़ता है। लेकिन हम तो यहाँ तक पहुँच गये हैं कि कोई सूत के साथ पोलिएस्टर मिलाकर वस्त्र वनाये तो उसे भी खादी कहने को तैयार हैं। कहाँ तो गाँव के स्वावलम्बन के लिये खादी लाई गयी थी। कृषि के साथ खादी को जोड़ना था, कि गाँव में उत्पन्न कच्चे माल का पक्का माल गाँवों में ही बन जाय, ताकि उत्पादक और उपभोक्ता के बीच खड़ी दलालों और व्यवस्थापकों की लम्बी शृंखला को तोड़ा जा सके। गाँधीजी चाहते थे कि सारे उत्पादन के साधन राज्यसंस्था के हाथ में जाने से कहीं समाजवाद के नाम पर राज्य-पूँजीवाद न आ जाये। और कुछ अमीर व्यक्तियों के हाथों में जाकर पूरा पूँजीवाद न आये। दोनों में से रास्ता निकालना चाहते थे गाँधीजी। इसलिये वे खादी-ग्रामोद्योग की बात लाये थे। हमारे हाथों में आकर

वह स्वावलम्बी खादी तो गयी, अरे ग्रामाभिमुख खादी भी गयी। अब तो खादी भी विदेशों में बिक्री के लिये बनने लगी।

ऐसे आत्मनिरीक्षण करने से पता चलेगा कि कहाँ-कहाँ हम रास्ता भटक गये हैं; तो लौटकर इन भूलों का कुछ उपाय कर सकेंगे। जो प्रशासन के कानून बाधक हों उनका प्रतिकार करेंगे। अन्याय-अधर्म का प्रतिकार और गाँधी-विरोधी अर्थनीति-राजनीति का प्रतिकार करना हो सकेगा जब एक संगठित गाँधीमंच ('फ़ोरम') बनेगा, उससे consolidated conserted action होगा—तब गाँधीजीवनदर्शन को देश में वापस लाया जा सकता है।

अभी उसके लिये समय अनुकूल है। रूस में गोर्बाचेव इसी प्रकार का बड़ी हिम्मत का काम कर रहे हैं—"पेरेस्त्रोइका"—पूरे राष्ट्रीय-राजकीय ढाँचे का पुनर्गठन! एक हमारे मित्र हैं—अलफ़ान्सो, अर्जेन्टीना (दक्षिण अमेरिका में) के राष्ट्रपति। वे १० साल मिलिटरी के जेल में रहे हैं तब महात्मा गाँधीजी के साहित्य के सिवा और कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा। राष्ट्रपति बने तब पहली रात राष्ट्र के प्रति सन्देश में कहा कि "शान्ति ही मेरी गृहनीति होगी, शान्ति ही विदेशनीति होगी। (Peace will be my domestic Policy; Peace will be my foreignpolicy). वह यदि आपको पसन्द नहीं, तो मैं राष्ट्रपति रहना नहीं चाहता।" —यह कहकर पूरे देश का जनमत लिया फिर दक्षिण-अमेरिका के ग़रीब देशों में आर्थिक स्वावलम्बन लाने के लिये उन्होंने कैसे-कैसे प्रयत्न किये—इसके विस्तार में जाने का समय नहीं। शिक्षण की नई पद्धति लाना चाहते हैं, उसके लिये परिसंवाद चलाये। (मैं इसमें सहभागी रही हूँ।)

यह सब कहने का आशय यही है कि प्रामाणिक प्रयत्न किया जाय तो मनुष्य से न हो सके ऐसा कुछ नहीं। स्वयं चिन्तन एवं प्रयोग करके नीचे से ऊपर तक के क्रम में पुनर्निर्माण के सुझाव दिये जा सकते हैं, योजना बन सकती है।

यदि गाँधीजन उनके ग्रामस्वावलम्बन की बात मानते हैं, और ग्राम की जनता तक किसान-कारीगर-मज़दूरों के हाथ में सार्वभौम सत्ता जानी चाहिये; वह उद्योगपतियों के हाथ में, राजनैतिक पक्षों के हाथ में न बनी रहे—यह चाहते हों तो गाँधीजनों को इकट्ठे

हो कर जड़ें डालनी चाहियें, यह प्रयत्न करने चाहियें कि ग्रामपंचायतों, सहकारी संस्थाओं और नगरपालिकाओं के चुनाव पक्षमुक्त ही होंगे। वहाँ तो कोई केन्द्रीय अनुशासन का सवाल नहीं, विदेशनीति का सवाल नहीं, राष्ट्रीय सुरक्षा का सवाल नहीं। वहाँ तो सवाल है—अन्न-वस्त्र आरोग्य-शिक्षण-निवास क्षेत्रीय सिंचाई व पीने के पानी इत्यादि की व्यवस्था का। अतः स्थानिक स्वराज्य संस्थायें जनता के हाथ में चलनी चाहियें। इसी क्रम से जनता लोकतन्त्र चलाना सीख जायेगी। गाँधीजनों को यह पुरुषार्थ करना चाहिये।

इस प्रकार यदि स्थानिक स्वराज्य-संस्थाओं के चुनाव पक्षमुक्त होकर वहाँ का प्रबन्ध व सत्ता जनता के हाथ में आती है तो लोक-समितियाँ, ग्रामपंचायतें, नगरपालिकायें फिर योजना-निर्माण में भी सहभागी होने को उद्यत होंगी। केन्द्रीय योजना आयोग को ये संस्थायें अपने क्षेत्र में आमन्त्रित करके कह सकेंगी कि "यहाँ आकर देखिये, यहाँ ये-ये आवश्यकतायें हैं, इन्हें इस प्रकार पूरा किया जा सकता है, केन्द्र से अमुक-सहायता की जाय तो बाकी सब काम क्षेत्रीय जनता सम्हाल लेगी। इस दिशा में एक छोटा सा प्रयोग हमने बीकानेर जिले में छतरगढ़ में ग्रामस्वराज्य शिक्षण केन्द्र बना कर किया है। उस क्षेत्र के ५० गाँवों में काम किया; ३५ गाँव अधिक मुस्लिम जनसंख्या वाले हैं, बाकी हिन्दू जनसंख्या वाले हैं। ऊँटगाड़ी साथ लेकर इन गाँवों में पदयात्रायें कीं। घर-घर में लोगों से मिले, उनकी परेशानियाँ सुनीं-समझीं। फिर इन ५० गाँवों के मुखिया लोगों को छतरगढ़ बुला लिया, एक परिसंवाद रखा; उसमें उन ग्राम-मुखिया लोगों को ही बोलना था कि उनके गाँव में—अन्न-वस्त्र-आरोग्य-शिक्षण-सिंचाई-पीने का पानी आदि की क्या समस्यायें हैं? क्या आवश्यकतायें हैं? इस परिसंवाद में गाँव वालों की बात प्रत्यक्ष सुनने के लिये जिले के प्रमुख सरकारी अधिकारियों को बुलाया। वे लोग आये। आप यह मत मानिये कि सरकारी अधिकारी सब बुरे ही होते हैं। ऐसा नहीं है।······पहले दिन गाँव के मुखियाओं ने अपनी समस्यायें एवं आवश्यकतायें कहीं। दूसरे दिन जिला-अधिकारियों ने अपनी योजनायें बताईं, समझाईं। तीसरे दिन उसमें से जिले की योजना का क्या स्वरूप बनना चाहिये—इसके निष्कर्ष निकाल कर प्रादेशिक सरकार के पास भेजे गये।

इस प्रकार नीचे के स्तर से योजनाओं में शामिल होकर भागीदारी का लोकतन्त्र निर्माण किया जा सकता है। "गाँधीमूल्यों का संरक्षण नहीं है, उनका ह्रास हो रहा है"—कहते रहने से क्या होगा? सत्ता की कुर्सी पर से एक आदमी उठा, दूसरा बैठा—इससे क्या होगा? जो व्यवस्था बनी है, जो आर्थिक-राजनैतिक ढाँचा बना है, वह गाँधीमूल्यों के विरोध में है, वह भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के विरोध में है। इस विरोध को मिटाकर उस ढाँचे को भारतीय संस्कृति एवं गाँधी-मूल्यों के अनुरूप बनाने के लिये आप जनता को विश्वास में लीजिये। जनता के साथ मिलकर गाँधी संस्थायें स्वयं संगठित होकर एक मंच से कार्य करती हुई नीचे के स्तर से निर्माण-कार्य में लग जायेंगी तो पाँच वर्षों में क्रमशः इसका परिणाम विधानसभा-लोकसभा एवं सरकारी महकमों पर हुए बिना नहीं रहेगा।

प्रश्न—हमारा प्रशासन तन्त्र और औद्योगिक केन्द्र सही ढंग से काम कर सके—इसके लिये क्या किया जाय ?

वि०—प्रशासन तन्त्र बहुत बड़ा फैलावदार हो गया है, उसके बहुत कारण हैं, सब तो यहाँ नहीं देखे जा सकते; पर एक कारण यह है कि—संविधान के अनुसार कुछ तो प्रदेशीय सरकारों के काम (state subjects) हैं और कुछ संघीय केन्द्रिय सरकार के काम (Union subject) हैं। तीसरी कार्य श्रेणी है तात्कालिक चालू कार्यों (Concurrent subject) की। वह केन्द्रिय तथा प्रादेशिक दोनों स्तरों पर लागू होती है।

पिछले कुछ वर्षों से केन्द्र-सरकार बहुत सी ऐसी जिम्मेवारियाँ और कार्य जो प्रादेशिक स्तर के थे—उन्हें केन्द्र में लेती चली गयी। प्रादेशिक सरकारों ने उसका विरोध नहीं किया। इस तरह जो केन्द्र सरकार के काम नहीं थे वे भी वहाँ चले जाने से केन्द्रीय प्रशासनतन्त्र बहुत भारी हो गया, यह स्वाभाविक है। इस समय केन्द्रिय नौकरशाही (Beurocrary, अधिकारी-कर्मचारी) सरकारी अमले में करीब पौने दो करोड़ लोग हैं। इन्हीं के लिये सब (सुविधा बढ़ाना, वेतन बढ़ाना, भत्ते बढ़ाना, रियायतें देना, भविष्यनिधि के नये-नये नियम) सोचा जाता है। जो ८० करोड़ लोगों को मिलना चाहिये वह लाभ पहले इन दो करोड़ में फिर शिक्षकवर्ग में बाँटा जाता है, बाकी अफसरों में जाता है।

इसमें उचित सुधार के लिये अनेकों जाँच-आयोग बैठाये गये, परं उनके ब्यौरों (Reports) एवं निष्कर्षों कर अमल करने के लिये एक राजनैतिक संकल्प (Political will) तो होना चाहिये न! कितने परिश्रम से पंजाब की समस्या का राजनैतिक हल लाने के लिये लोंगोवाल-समझौता हुआ था, लेकिन उस पर अमल नहीं हुआ। (Political will to execute the accord is missing.) उसी तरह केन्द्र एवं प्रदेशों की सरकारों के अधिकारों में जो एक विषमता आ गयी है। उस विषमता को दूर करने का राष्ट्र के बुद्धिजीवियों और राजनैतिक कार्यं करने वालों को प्रयत्न करना चाहिये तो अतिकाय प्रशासनतन्त्र का भारी-भरकम पना (उससे आती अक्षमता) कुछ कम होगा।

दूसरे, जो बात पहले कही जा रही थी कि ग्रामपंचायतें, सहकारी संस्थायें और नगरपालिकायें इत्यादि यदि अपने-अपने क्षेत्र के चालू खाते के काम सम्हाल लेते हैं तो केन्द्रिय प्रशासन का भार बहुत हल्का हो सकता है। कुछ समय बाद तो यह भी कहा जा सकता है कि गाँवों-तहसीलों-जिलों से जितना कर वसूल होता है उसका ५०% हिस्सा उन्हीं गाँवों-जिलों को सौंपा जाना चाहिये। ऐसा नहीं कि जो गरीब आदमी सौ रुपया कर भरे, उसके पास मुश्किल से ८% रुपया वापस आये, बाकी सब "व्यवस्था" (management) में लग जाय। यही तो आम गरीब आदमी को लूट कर वर्ग विशेष की तिजोरी भरना और उनकी सुविधायें बढ़ाते जाना गरीबी-अमीरी की खाई बढ़ाता जा रहा है।

इससे मुक्ति तभी मिल सकती है जब "व्यवस्था" में जनता शामिल हो, यानी स्थानीय स्वराज्य संस्थायें व्यवस्था सम्हालने लगें।

अकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के बारे में मेरा यह कहना है कि जितने शिक्षित बेरोज़गार लोग हैं, उन्हें २-३-५ की टोलियाँ बनाकर जिलों के मुख्य व्यवस्थालयों (District headquarters) में जाकर, वहीं अपने छोटे-छोटे 'वर्कशॉप्' एवं छोटे स्तर की लघु उद्योगशालायें (small scale Industries) बना कर बैठना चाहिये। आरम्भ के लिये कुछ पूंजी लगानी पड़ेगी, (यों भी तो सरकारी या व्यक्तिगत संस्थाओं की भी अच्छी नौकरी पाने के लिये कितनी-कितनी राशि पहले से किसी न किसी रूप में भरनी ही पड़ती है? वही इकट्ठी करके ४-५ युवक मिल कर लघु उद्योग खोल सकते हैं।)

किन्तु इन्हें आगे चलाने के लिये कोई "अनुदान" या चन्दे न लें। ये लघु उद्योग धनाधारित न होकर श्रमाधारित (man-power based) हों। उसमें से अपनी आजीविका भी चला लें और साथ-साथ जनशिक्षण का, नागरिकता चेतना-मानवीय मूल्यों की चेतना जगाने का कार्य भी करने लगें। गाँधीजी के जमाने में खादी-ग्रामोद्योग द्वारा काम होता था; अब मानवीय-तकनीक (Human technology) ले कर चलें।

सुशिक्षित होकर बेरोज़गारी के कारण भटकने वाले युवकों को इस प्रकार संरचनात्मक कार्य में लगाना चाहिये। पहले जैसे सेवादलों में या संघ-शालाओं में लोग आते थे वैसे जिले-जिले में शुभसंस्कारसिञ्चन करने वाले इन युवक-दलों के पास जिले के, तहसीलों के, गाँवों के लोग मार्गदर्शन एवं सहचिन्तन के लिये आने लगेंगे। इससे जनशिक्षण भी होगा और लघु उद्योगों को, स्थानिक स्वावलम्बन की एक नई प्रथा चल पड़ेगी। ये लघु उद्योग काम करने लगेंगे तब गाँववालों को कहा जा सकेगा कि बड़े-बड़े उद्योगों में बनने वाली चीज़ें मत खरीदो—क्योंकि उससे आपका (कर के रूप में वसूला गया) पैसा आपके काम नहीं आता, सब व्यवस्थापकों-अफ़सरों में बँट जाता है।

गुजरात में घेला सोमनाथ के पास हमने १९८२ में दूसरा ग्राम-स्वराज्य प्रशिक्षण केन्द्र बनाया। वहाँ सौर ऊर्जा से ग्रामोद्योग चलाना, हाथ का कागज बनाना आदि काम किये सिखाये जाते हैं, पवनचक्की का, जैविक-गैस (Biogas) का उपयोग किया जाता है। नौजवानों को उसमें नई-नई प्रेरणा मिलती है।········माँगरोल शहर (गुजरात) में भी मानवीय तकनीक का काम चलता है।

जिस तरह खादी-ग्रामोद्योग को लेकर देश भर में एक "नेटवर्क" फैल गया था, वैसे यदि लघु उद्योग लेकर "नेटवर्क" बना लेंगे तो हो सकता है कि आज जो अत्यधिक केन्द्रीकृत औद्योगीकरण का नमूना है, उसको हम काट सकें, प्रकट विरोध करना नहीं, सरकार से पैसा माँगना नहीं, अपना काम किये जाना—यह हमारा उपाय हो सकता है।

अन्तिम मुद्दे पर आती हूँ। यदि गाँधीजीवनदर्शन के संरक्षण की वात आप करते हैं, तो सभी गाँधी पथ पर चलने वाली संस्थाओं को एक बात का ख्याल रखना चाहिये।—सरकार, संसद-लोकसभा-

विधानसभा में बैठने वाले लोक-प्रतिनिधि और हम जैसे लोकशिक्षक तथा जनता ये चार मिल कर देश बनता है। इन चारों में सहयोग-सहकारिता का मानस (Psychology of co-operation) हो तो निर्माण होता है, और इनमें यदि संघर्ष (confrontation) की वृत्ति हो तो एक एक दूसरे के पाँव काटने के सिवा कुछ नहीं हो पाता। हमारे राष्ट्र का निर्माण अभी बाकी है। इसलिये सरकार से मदद ली जाय अवश्य, गाँवों के विकास के लिये बजट में जो हिस्सा रखा गया हो, जो योजनायें बनी हों—उन पर पूरा-पूरा अमल कराया जाय—लेकिन स्वमान और सत्य खो कर नहीं। जिसमें अपनी स्वाधीनता खोनी पड़ती हो, दीन-हीन बनना—आत्मसम्मान खोना पड़ता हो, राजनैतिक दबाव आते हों ऐसी मदद नहीं लेनी है। हम हमारे हक की सहायता अवश्य लेंगे लेकिन उसके आश्रित नहीं बनेंगे। यह नहीं कि "कल मदद बन्द हो जायेगी तो क्या होगा? इसलिये जो भी दबाव आये उसको सहन करते जाओ!"—फिर कहाँ से गाँधी जीवन मूल्य आयेंगे? अतः गाँधी संस्थाओं को अधिकार पूर्वक, खुमारी से, सरकारी मदद लेनी चाहिये; लेकिन जहाँ मदद के लिये स्वाधीनता गँवानी पड़ती हो वहाँ वह मदद लेना बन्द कर देना चाहिये।

स्वाधीनता खरीदने-बेचने की वस्तु नहीं, वह प्राण है लोकतन्त्र का। जब भारत के हर नागरिक को स्वाधीनता की कीमत मालूम होगी, तब मैं मानती हूँ कि, आज जैसी समस्या नहीं रहेगी।

प्रश्न : लोकशाही में पक्षीय राजनीति की स्थिति में (जब सभी व्यक्ति तो अच्छे होंगे नहीं तब) सन्निष्ठ अच्छे व्यक्तियों को राजनीति का क्षेत्र छोड़ देना चाहिये या कि उसी में रहते हुए स्वयं ऐसे प्रयत्न करने चाहियें कि भ्रष्ट व ग़लत राजनीतिकों की शक्ति घटे? दोनों में से अच्छा रास्ता कौन सा है?

विमलाजी—हम सभी धूल भरे पैरों वाले लोग हैं; इसलिये एक-दूसरे के दोष ही निकालते रहना व्यर्थ है। हमारे जयप्रकाश जी कहते—"जय प्रकाश भी मिट्टी का बना है……… कमज़ोरियाँ, त्रुटियाँ सब में होती हैं।" भाई, सवाल पक्षों के अन्दर रहने या बाहर निकल जाने का नहीं है, महत्त्व की बात यह है कि इन दुर्बलताओं, त्रुटियों

का प्रतिकार करने की शक्ति विकसित की जाय। पक्ष के भीतर रहकर एक आदमी भी आवाज़ तो उठा ही सकता है।………१९७५ में आपात-कालीन स्थिति में भी, हमारे भाई श्री पुरुषोत्तम मावलंकर संसद में थे, उनकी अकेले की आवाज़ उठती थी (उनकी "NO SIR !" नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई है।) "इमर्जेन्सी" के कारण उनकी आवाज संसद से बाहर नहीं आने दी जाती थी; लेकिन बाद में वह पुस्तक छपने पर लोगों को मालूम हुआ कि पक्ष में शामिल रहते हुए भी पुरुषोत्तम भाई ने क्या-क्या किया ! कितनी हिम्मत से वे अपनी बात संसद में रखते रहे। साहस हो तो पक्ष में रहते हुए भी सही काम क्यों न करें ?

सत्य जाकर असत्य से टकराये, धर्म जाकर अधर्म से टकराये ! (टकराने का अर्थ हाथ में लाठी-भाला या बन्दूक लेना नहीं,) टकराने का अर्थ है शान्तिमय रीति से प्रतिकार, इसको बारबार दोहराने की ज़रूरत नहीं है। अतः यदि पक्ष के अन्दर रहते हुए अन्याय का प्रतिकार होता है, तो अच्छा ही हैं, यदि उस तरह प्रतिकार नहीं हो पाता, आवाज़ नहीं सुनी जाती, तो पक्ष छोड़ दिया जाय; बाहर आकर काम करें। आखिर पक्ष में रह कर भी जनता की सेवा ही करनी थी, सो बाहर आकर सेवा करें। इसलिये इन दो रास्तों में कोई श्रेष्ठ-कनिष्ठ होने की बात नहीं है। अपने बल-अबल का सवाल है। मनुष्य कहीं भी दीन-हीन न बने। अपने आपको एकाकी—'अलग-थलग' (isolated) महसूस न करे। जिस तरह भी स्वमान पूर्वक स्वाधीनता से कार्य कर सके उसी तरह अपनी समझ के अनुसार कार्य करता रहे।

इस देश में कुछ वर्षों से एक अजीब बात चल पड़ी है कि "जो लोग राजनैतिक पक्षों में हैं—वे सब सत्ता के लालची हैं, सब भ्रष्ट हैं………" और जो पक्षों में सदस्य नहीं हैं, स्वतन्त्र रूप से कुछ "देशसेवा" करते हैं, वे अपने को "पवित्र" मानते हैं। ऐसे "अहं-पावित्र्य" वाद (self rightiousness) की ज़रूरत नहीं। ये बाहर रहे हुए लोग प्रकट सत्ता न चाहते हों तो सम्पत्ति-संग्रह चाहते होंगे, यदि कोई संस्था चलाते हों तो उस संस्था में सत्ता व सम्पति की लालसा रखते होंगे ! अपने परिवार में रहते हुए भी तो सत्ता-सम्पति की लालसा चित्त में रह सकती है ? अपना ईमान तो अपने भीतर है—रहना कहीं भी हो !

प्रश्न—आपने चुनाव की शुद्धि एवं जनता के घोषणापत्र की बात कही, वह बात तो अच्छी है, किन्तु इसी वर्ष आने वाले चुनावों में क्या यह किया जा सकेगा ? और वह भी सरकार के जुल्मी बर्ताव के बावजूद ?

वि०—आप करना चाहें तो अवश्य कर सकते हैं। क्योंकि आगामी चुनाव होने में अभी तो कुछ समय बीच में हैं ही। संगठित होकर अपने-अपने जिले में, अपने प्रदेश में, सब गाँवों में घूम-फिरना असम्भव या बहुत कठिन नहीं है। प्रयत्न तो किये ही जा सकते हैं।

प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में—उस क्षेत्र के सब मतदाताओं की प्रतिनिधि एक समिति बने जिसमें वहाँ के लब्धप्रतिष्ठ-सज्जन सुशिक्षित एवं प्रभावशाली नागरिक हों, उस समिति के स्वयंसेवकदल गाँवों में जाकर आम जनता को चुनावशुद्धि, जनता के घोषणापत्र एवं निर्भय मतदान की बात समझायें, यह स्वयंसेवकदल गाँव-गाँव में वहाँ की जनता में से ग्रामसुरक्षादल खड़ा कर सकता है, इस तरह गाँव के स्वयंसेवकों को भी नगर की उस मतदाता-समिति के पृष्ठपोषक बल का अहसास रहे। पूरे निर्वाचन क्षेत्र की यह नागरिक समिति सज्जनशक्ति के संगठन का काम करे। क्या सज्जन-शक्ति संगठित हो ही नहीं सकती ? दुर्जन ही संगठित होते जायें ?

मित्रो ! थोड़े से दुर्जनों की दुर्जनता देश का उतना नुकसान नहीं करती जितना कि अधिकतर सज्जनों की निष्क्रियता नुकसान करती है। सज्जनों की निष्क्रियता देश का सबसे बड़ा अभिशाप है, दुर्जनता उतना अभिशाप नहीं। यदि हर क्षेत्र में सज्जन सक्रिय हो जायँ, जहाँ-जहाँ अन्याय-अधर्म होता हो वहाँ उससे टकरा जायँ, तो दुर्जनता को पनपने का अवसर कम मिलता है। आज तो दुर्जनों के लिये मैदान खुला पड़ा है। क्योंकि सज्जन कहते हैं—"हमें क्या लेना-देना ? हमारे घर में तो मुसीबत नहीं है न ! हमारा मुहल्ला तो सुरक्षित है न ! देश में समाज में चाहे कुछ भी होता रहे ?……मेरा जो कुछ है उसे सम्हालते हुए जो कुछ मैं कर सकूँगा, कर दूँगा, हो जाय कुछ देशसेवा भी"।

हमारी यह मनोवृत्ति बन गयी है। इसी कारण कुछ बन नहीं पाता है। अन्यथा काम कठिन नहीं है। एक-एक प्रदेश में जितने जिले हैं क्या उतने भी सज्जन एवं सक्षम व्यक्ति उस प्रदेश में नहीं होंगे ? वे

लोग अपने-अपने जिले के लिये ३-४ महीने का समय देने को तत्पर हों और वहाँ की सज्जनशक्ति का संगठन करके मतदातासमिति-स्वयंसेवकदल और ग्राम-सेवकदल का संयोजन करें तो चुनावशुद्धि तथा उपयुक्त व्यक्तियों का ही चुना जाना अवश्य सम्भव है।

अब रही बात—सरकार के जुल्मी बर्ताव की। मान लीजिये कि सरकार पूरे पूरी भ्रष्टाचारी और जुल्मी है। तो. वह ऐसी है—इसीलिये तो आपको बाहर आकर कुछ पुरुषार्थ करने की जरूरत पड़ी है ? नहीं तो आपको निकलना क्यों पड़ता ? चुनौती समझ रहे हैं न आप ? खैर, फिर, आप यह तो कहते नहीं निकलते कि "हम अमुक पक्ष को हिलाने या हटाने निकले हैं !" अपनी एक विधायक दृष्टि होती है। सर्वोदय की दृष्टि समन्वय की होती है। "विरोधस्य परिहारः।" विरोध को मिटाना और सामञ्जस्य बढ़ाना—यही अपना लक्ष्य है न : आप यही कहने चले हैं कि मतदाता का कर्तव्य क्या है ? मतदाता के अधिकार क्या हैं ? उसका सकल्प क्या है ? उसका घोषणापत्र क्या है ?······ फिर, प्रदेश भर के जिलों के प्रमुख सन्निष्ठ, प्रबुद्ध, प्रभावी सज्जन एकत्र मिल कर चिन्तन करके यह घोषणापत्र एवं संकल्पपत्र बनायें, जिसे सरलतम भाषा में आम आदमी तक पहुँचाया जाय—इसमें बहुत फैलाव-दिखाव की तो ज़रूरत नहीं। सरकारी अमले को इसमें जुल्म लाने का अवसर ही क्यों दिया जाय ? जनता का वह संकल्पपत्र एवं घोषणापत्र गाँवों-मोहल्लों में प्रार्थना-सभाओं में सब मिल-बैठकर पढ़ें-समझे-दोहरायें। आकाश भर जाय उन सत्सङ्कल्पों से कि—"शराब एवं खैरात की घूस नहीं चलने देंगे, मतों की खरीद-बिक्री नहीं होगी, लूटपाट-छीना-झपटी-खूनखराबी-हिंसा-हत्या आदि दुष्कर्म हम अपने यहाँ नहीं होने देंगे !

अधिकतर गाँव टूट गये हैं, फिर भी जितने गाँव अभी बाकी हैं उनमें तो ये शुभसंकल्प गूँज कर बल भर सकते हैं, टूटते हुए गाँवों में भी कुछ तो युवक निकल ही आयेंगे जो इस विधायक कार्य में जुड़ने में अपनी सार्थकता समझेंगे। वे कहेंगे कि हम गाँव को टूटने नहीं देंगे।

इस तरह नागरिक-निरीक्षण समितियों का गठन आगामी चुनाव की दृष्टि से उठाने लायक कदम ज़रूर है।····· सरकार इससे चौंकेगी नहीं, इसे ग़लत नहीं समझेगी—यह तो मैं कैसे कहूँ, सरकार को शक हो जाय, भयग्रन्थि पैदा हो जाय, तब तो मुझ जैसे निरुपद्रवी व्यक्ति

को भी कह सकते हैं कि आप यह सरकार विरोधी काम कर रहे हैं! तो इसे क्या न कहेंगे ?

अपना हेतु शुद्ध होना चाहिये, अपनी भाषा में सभ्यता होनी चाहिये। भाषा में ही कटुता हो, समस्या का विश्लेषण करने की बजाय व्यक्तियों पर ही प्रहार और आरोप हो, एक दूसरे के चरित्र की निन्दा, परस्पर दोषारोपण ही करें—तो बात बिगड़ेगी ही, बन नहीं सकती। अरे, मकान में आग लगी हैं तो झटपट बाल्टियाँ भर-भर के पानी उस जगह डालो, रेत के टोकरे डालो ! सब तरह से आग बुझाने के प्रयत्न करो ! वह न करके "आग किसने लगायी ? क्यों लगायी ?"—इसी की चर्चा करने बैठेंगे तो घर जलकर राख हो जायेगा। वही हालत अपने देश की है। इसलिये देश-निर्माण करने वाली, लोकतन्त्र को जिलाने वाली, मानवीय जीवनमूल्यों को टिकाने वाली (उक्त सब) बातों का प्रचार संयत-सभ्य वाणी में, हेतु व साधन शुद्ध रखते हुए करना चाहिये। तब काम अवश्य हो सकता है।

वाणी के संयम की बात से १९५३ की एक घटना याद आयी। युनिवर्सिटी की पढ़ाई पूरी करके मैं भूदान आन्दोलन में कूद पड़ी थी। बिहार में काम चल रहा था। एक तो युवावस्था फिर उस समय एम० ए० तक पढ़ने का भी कुछ घमण्ड रहा होगा। बिहार में अन्याय अत्याचार देखा तो मैंने कह दिया—"यहाँ जो काँग्रेस का राज चल रहा है यह तो कंस का राज्य है।" उस समय बिहार में श्रीबाबू मुख्यमन्त्री थे। विनोवाजी तब गया जिले में काम कर रहे थे। श्रीबाबू विनोवाजी के पास पहुँचे। (४०-५० हजार की मेरी बड़ी-बड़ी सभायें होती थीं अतः मेरी बातों का श्रीबाबू को पता रहता ही था।) उन से कहा कि "यह जो दादा धर्माधिकारी की लड़की है—वह काँग्रेस के राज्य को कंस का राज्य कहती है। ज़रा उसे ज़बान सँभाल कर बात करने को कहा जाय !" विनोवाजी ने दादा को कहा कि अपनी बेटी को ज़रा समझाइये ! दादा पटना आये, मुझे कहा "चलो बेटे ! श्रीबाबू के पास चलना है।" मैंने कहा "मैं माफ़ी नहीं माँगूँगी, मैं जो कहती हूँ वह सही बात है।" दादा ने कहा "चलो तो सही। श्रीबाबू बुज़ुर्ग हैं उन्हें प्रणाम कर आने में क्या हर्ज़ है। माफ़ी नहीं माँगनी है।" गये हम वहाँ। दादा ने कहा "श्रीबाबू ! यह लड़की है न। अभी-अभी विश्वविद्यालय से पढ़ कर निकली है, इसे बोलना नहीं आता। इसे कहना तो चाहिये था कि कृष्ण के मामा का राज्य है। पर कह गयी कि कंस का राज्य है"—सुन कर श्रीबाबू हँस पड़े। बात वहीं ख़त्म हो गयी।

जिस कुल में कंस पैदा हुआ, उस कुल में कृष्ण भी पैदा हो सकते हैं, और जिस कुल में कृष्ण पैदा होते हैं, वहाँ कोई कंस भी हो ही सकता है।—दादा बड़ी अर्थगम्भीर बात करते थे।

मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु को तीखे ढंग से भी कहा जा सकता है, सौम्य मृदुमधुर ढंग से भी। कड़वी-तीखी भाषा बोलने से, गाली-गलौच में अपने दिल का गुबार निकालने से शायद कुछ ढाँढस अपने को होता हो, अहङ्कार को तुष्टि (gratification of Ego) मिलती हो, पर समस्या के विश्लेषण और निराकरण में उसकी कोई उपयोगिता नहीं। इसलिये संयत-सभ्य भाषा में विषय का विश्लेषण करें और समस्या के निराकरण के उपाय बताते सुझाते चले जायें, तो किसी भी देश की, कैसी भी सरकार क्यों न हो, बात बिगड़े बिना भी, काम हो सकता है।

आखिर अपने देश में लोकतन्त्र है तो सही! भले ही उसके पाँव लड़खड़ा गये हों। आसपास के देशों में तो लोकतन्त्र खत्म हो गया, अपने पूर्वजों की तपस्या का फल है कि भारत में अभी तक लोकतन्त्र जीवित रहा है। जो है, उसकी कीमत कम नहीं आँकना चाहिये, इसका लाभ उठा कर हमें काम करना चाहिये।.......एक दूसरे की निन्दा व दोषारोपण न करके, उन सब बुराइयों-विकृतियों का सहारा लिये बिना, अपना काम करने (विकृतियाँ हटाने) की युक्ति निकाल कर (योगः कर्मसु कौशलम्) सही रास्ते पर हम जुट जायेंगे तो लोकतन्त्र के सन्दर्भ में काम करने का अवसर आज भी है।

"......अयोध्या में हिन्दू आतङ्कवादी पैदा हुए हों, या भारत भर में हिन्दू आतङ्कवाद का जन्म हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं। पिछले दो-ढाई वर्षों से 'रामशिला' 'रामरथ' 'रामज्योति' के बहाने जो राजनीतिक उग्रवाद (Extremism) विश्व-हिन्दू-परिषद्, बजरंगदल, R.SS., भा० ज० प० आदि द्वारा खुलेआम व प्रच्छन्नरूप से प्रसारित हो रहा था, उसका यह स्वाभाविक परिणाम है। गान्धी-विचार को दफ़नाने के लिये, गान्धी-दर्शनाधारित अर्थनीति एवं अर्थतन्त्र को कुचलने के लिये, तथा धर्मनिरपेक्ष प्रशासन व राज्य व्यवस्था को निर्मूल करने के लिये तथाकथित हिन्दुत्ववादी आतुर हो गये हैं। Hindu state बनाने की आकांक्षा ने उनको विवेकहीन बना दिया है।...भारत में सर्वधर्मसमावेशक न्यायनिष्ठ लोकतन्त्र बना रह सके इसके प्रयास ही आशा के स्रोत हैं।......"

—विमला

[इसी वर्ष एक आप्तजन के प्रति लिखे गये पत्र में से]

धर्मनिरपेक्ष प्रशासन की अनिवार्यता

विमला

१०-६-१९९१

भारतीय इतिहास तथा जीवन-संदर्भ धर्मनिरपेक्ष प्रशासन का रहा हैं। यहाँ राज्यकर्ता को श्री विष्णु का अवतार माना गया। प्रजा-प्रतिपालन को राजधर्म माना गया। भारतीयों को धर्मनिरपेक्षता का अर्थ समझने के लिये किसी अन्य देश या संस्कृति के पास जाने की आवश्यकता नहीं है।

सन् १९४७ के बाद जिन्होंने भारत के प्रशासन की बागडोर सम्हाली वे नेता भारतीय संस्कृति के सत्व से सर्वथा अपरिचित रहे। इसलिये लोकतन्त्र की संकल्पना से लेकर धर्मनिरपेक्ष प्रशासन की अवधारणा तक सब कुछ वे पश्चिमी देशों से उधार लेते गये।

यह भूखण्ड भारतवर्ष के नाम से सनातन काल से सुख्यात है। इस पर हिन्दोस्तान या हिन्दुस्थान नाम लादा गया। यहाँ की संस्कृति का नाम है—वैदिक संस्कृति। इस संगम संस्कृति का मूलस्रोत है वेदोपनिषदादि सनातन साहित्य। वैदिक संस्कृति एक जीवनपरायण संस्कृति है। पदार्थपरायण उपभोगवादी जीवनपद्धति नहीं। वह देशकाल निरपेक्ष जीवनमूल्यों की उपासिका है, मानव्य की आराधिका है।

यहाँ एकमेवाद्वितीयम् धर्म रहा है—सत्योपासना। "सत्यं परं धीमहि"। जीवन की एकता एवं एकरसता को यहाँ "सत्यं" कहा गया। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" के उपासक, "अहं ब्रह्मास्मि-तत् त्वम् असि" के उद्गाता मानवधर्म की दीक्षा देते रहे हैं।

"हिन्दू" यहाँ बसने वाले एक समाज का नाम है, जिसमें आर्य-अनार्य, शक, हूण आदि कितने ही वंश समा चुके हैं। इस समाज ने "हिन्दुत्व" के नाम से अपनी एक जीवनशैली विकसित की है। मुस्लिम समाज में मुगल, अरब, पठाण, ईरानी इत्यादि अनेक वंश समा गये। उनकी सबकी एक अलग जीवन शैली है। परंपरायें, रूढियाँ, मान्यतायें भी अलग-अलग हैं। आत्मसाधना की पद्धतियां एवं प्रक्रियायें भी भिन्न-भिन्न हैं।

हिन्दुत्व या इस्लाम को सम्प्रदाय कहा जा सकता है। ख्रिस्ती, बौद्ध या सिख सम्प्रदाय, जैन या चार्वाक सम्प्रदाय भी सदियों से सहजीवन का आनंद लेते रहे हैं।

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ इतना ही है कि प्रशासन किसी विशिष्ट साम्प्रदायिक जीवन शैली पर न आधारित होगा न आश्रित बनेगा। वह सभी सम्प्रदायों की अवधारणाओं से सर्वथा मुक्त रहेगा। वह निरपेक्ष जीवन-मूल्यों पर आधारित एक मानवीय प्रशासन रहेगा। सम्प्रदायमुक्त शासन प्रशासकधर्म कहलायेगा जैसे नागरिकधर्म भी सम्प्रदायमुक्त है। इसको यदि कोई "सेक्युलॅरीजम्" कहता है तो हमें उसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती, न होनी चाहिये। उसे अप्रासंगिक कहने में भारतीय जीवन की यथार्थता का अस्वीकार है।

हिन्दु समाज ने संस्कृत भाषा तथा वैदिक संस्कृति अपनायी। आत्मसात् करने की प्रामाणिक चेष्टा की। काश्मीर में बसनेवाले मुस्लिम समाज ने तथा एशिया के सूफीओं ने भी उसे अपनाया। बहुसंख्य हिन्दुओं ने तथा भारतीय मुसलमानो ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से वैदिक संस्कृति के दिखाये मानवधर्म को मानसिक मान्यता दी नहीं होती तो इस भूखण्ड पर पिछले चार पाँच सौ वर्षों में जो संगम-संस्कृति खिली वह कदापि खिलने नहीं पाती। मध्ययुगीन संतों ने वैदिक संस्कृति का सन्देश लाखों गाँवों तक अपनी रंजनात्मिका शैली से पहुँचाया नहीं होता तो भिन्न-वंशीय, भिन्न-भाषीय जनता का सहजीवन संभव ही नहीं बनता। सन्तों के जात-पांत नहीं होती। सम्प्रदाय कहाँ से ?

सन् १९४७ के बाद भारतीय संस्कृति में जुड़ गई गणराज्य की संकल्पना, बालिग मताधिकार की संवैधानिक घोषणा। जुड़ गया नारी का नागरिकत्व, विज्ञान एवं यंत्रविज्ञान की धारा भी आ मिली। अर्थात् घोषणा हुई कि अब तो संख्यमूलक सहयोगपरायण सहजीवन लोकतंत्र का आत्मा बनेगा, मानवधर्म का नंदादीप प्रज्वलित रहेगा, कर्म की गुणात्मकता को प्रतिष्ठा मिलेगी, जन्मगत जाति की संज्ञा लुप्त होगी।

भारतवर्ष में न हिन्दु राज्य-राष्ट्र बनेगा, न यहाँ मुस्लिम राष्ट्र बनने दिया जायेगा। यहाँ मानवधर्म, वैदिक संस्कृति एवं भारतीय जीवन शैली की त्रिवेणी रहेगी।

इस आह्वान को प्रतिसाद देने के लिये सभी जमातों को अपनी परंपरागत अवधारणायें, सामूहिक व्यवस्थायें, मान्यतायें इत्यादि में मौलिक परिवर्तन करना पड़ेगा। मानवधर्म-विरोधी एवं लोकतंत्र विरोधी हिंसात्मक मनोवृत्ति का और कार्यपद्धति का सर्वथा त्याग करना पड़ेगा।

नारी के नागरिकत्व के कारण पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का स्वरूप बदलना होगा। मनुस्मृति, शरियत या ब्रायबल के नाम से महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों पर प्रहार अब सहे नहीं जायेंगे। अस्पृश्यता के कलंक को संकल्प पूर्वक मिटाना पड़ेगा।

क्या "मन्दिर-मस्जिद" प्रश्न कोई धार्मिक प्रश्न है? वह तो ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में उठाया हुआ एक विवाद है। राजनैतिक हेतु से उसे धार्मिक समस्या बनाकर जनता को भड़काने वाले, निर्दोषों का खून बहाने वाले सभी धार्मिक-राजनैतिक नेताओं की चालबाजी का पर्दाफाश करना होगा।

क्या हिन्दू-राज्य-राष्ट्र बनाने से काश्मीर, पंजाब, उत्तराञ्चल, झारखंड, गोरखालैंड या बोडोलैंड की समस्यायें हल हो जायेंगी? वह तो सत्ता के विकेन्द्रीकरण की समस्या है। सत्ता के केन्द्रीकरण में जिनके स्थापित हित गूँथे हुये हैं वे ही इन समस्याओं को साम्प्रदायिक बनाते हैं विकृत बनाते हैं। चुनावों के बहाने जातिवाद को कायम रखने में जिनके स्थापित हित समाये हैं, उन राजनैतिक जमातों के षड्यंत्रों का जमकर प्रतिकार करना होगा।

तात्पर्य प्रशासन की धर्मनिरपेक्षता का सही अर्थ जनता को समझना होगा। धर्मनिरपेक्ष प्रशासन सिर्फ प्रासंगिक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है।

हिन्दू समाज में शाश्वत एवं निरपेक्ष जीवनमूल्यों के प्रखर प्रवक्ता हुये, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा अपने जीवन में कायम रखनेवाले योगी-सन्त-संन्यासी हुये, इसीलिये यह समाज अनेक विकृतियों के बावजूद जीवित है।

भारतीय जनता हिन्दू-राज्य-राष्ट्र के खोखले नारों की शिकार नहीं बनेगी, यह मेरी श्रद्धा है। चुनावों में होने वाली हार-जीत मूल्यों की कसौटी नहीं मानी जा सकती। विज्ञान के पावन युग में मानवधर्म; मानवीय संस्कृति, वैश्विक परिवार तथा आध्यात्मिक जीवनमूल्य ही हमारा पाथेय है। हिन्दू राष्ट्र, मुस्लिम, सिख, बौद्ध या ख्रिश्चन राष्ट्र-राज्य इत्यादि शब्द प्रयोग केवल अप्रासंगिक या असंगत ही नहीं, अपितु अवैज्ञानिक एवं अवांछनीय हैं।

श्रीज्ञानेश्वरी

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका

—बारहवाँ अध्याय : भक्तियोग—

[विमलवाणी में प्रतिबिम्बित]

शिवकुटी, आबू पर्वत 307501

प्रथम संस्करण १९९१
(क्रमशः प्रकाशित होगा)
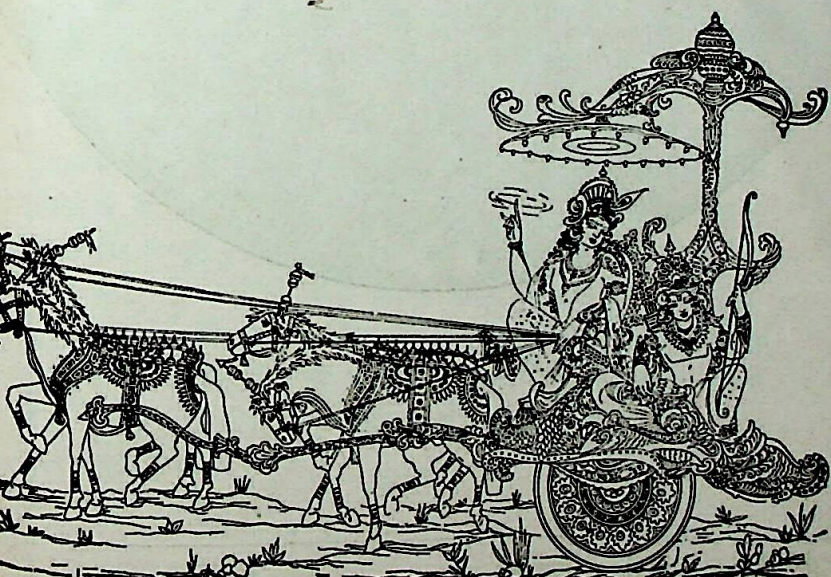
दुनियाँ के बहुत से बड़े हिस्सों में हम घूमते हैं, साम्यवादी देश, लोकतान्त्रिक देश, साम्राज्य वाले देश, सैनिकशक्ति के अधीन देश देखे। समाज के विभिन्न स्तरों व क्षेत्रों के लोगों (Crossections of society) को देखा है। इसलिए कह सकती हूँ कि इस नङ्गे-भूखे देश के सामान्य से सामान्य मनुष्य में भी जो शक्तियाँ हैं बुद्धि की एवं चित्त की, वे भारत से बाहर बहुत कम देखने में आती हैं। 'ग्रीस' और 'पर्शिया' में अवश्य ऐसी शक्तियाँ कुछ हद तक देखने में आयी थीं। भारत में जनसामान्य में धृति शक्ति का बीज अवश्य है। क्योंकि यहाँ सनातन काल से एक संस्कृति चलती आयी। शुद्ध संस्कारों के बिना धारणाशक्ति पुष्ट नहीं होती। बौद्धिक ज्ञान हो सकता है, मोह का निवारण नहीं होता। (इसी को दिखाया गया गीता में कि दूसरे अध्याय में इतना स्पष्ट विवेचन होने के बाद भी अर्जुन के प्रश्न समाप्त नहीं हुए) मोह के निवारण के लिए संस्कारों का ऐश्वर्य चाहिए जो धृति की शक्ति बढ़ाते हैं। तभी ज्ञान होने पर, प्रबोधन होने पर, उसे धारण किया जा सकता है। इसीलिए साधनाक्रम में दूसरा कदम कहा—अधैर्य झटक डालते हैं। अधीरता एक प्रकार का असन्तुलन है। (Impatience is imbalance) अधीरता उत्कटता का लक्षण नहीं है। उत्कटता में गम्भीरता, गहराई होती है। अधीरता छिछलेपन का लक्षण है। साधक भक्त चित्त के, इन्द्रियों के सब कोने झाड़-पोंछकर साफ कर लेते हैं, कहीं भी कोई अधीरता और प्रमाद का कचरा लेशभर भी नहीं रहने देते।

निद्रा नाम की वृत्ति में जो काल का विष है (प्राचीन मराठी में 'विख') उसका भी शोधन कर लेते हैं। निद्रा-वृत्ति का भी शोधन करना पड़ता है यानी वैज्ञानिक दृष्टि से उसे देखना पड़ता है। नहीं तो काल निद्रावृत्ति में घुस जाता है, ६ घण्टे की निद्रा पर्याप्त है फिर भी ७-८-९ घण्टे सोते रहें, रात में जागें दिन में चाहे जब चाहे जितना सोये-अलसाते रहें—तो वह निद्रा नहीं, निद्रा में तन्द्रा का विष घोला जाता है। काल के दो विष हैं तन्द्रा व आलस्य। उस में पड़ा मनुष्य न जागृत है न सुप्त न मूर्छित। वह न होश में होता है न बेहोश। केवल समय नष्ट करता है।

साधक मनुष्य निद्रा-वृत्ति का शोधन करके अतिनिद्रा, तन्द्रा, आलस्य को हटा देता है। 'सोऽहं' भाव में आरूढ़ होना केवल शब्द-प्रयोग नहीं है, उस तथ्य तक पहुँचने के लिये साधना करनी पड़ती है। साधना यानी अभ्यास, अर्थात् क्रियाओं का पुनरावर्तन; समझपूर्वक सम्यक् क्रियायें करते जाना, कोरा यान्त्रिक दोहराना भर नहीं। समझते हुए जो पुनरावर्तन होता है उसे अभ्यास कहते हैं।

अपान धातुओं की होली जलाकर साधकों ने सभी प्रकार की आधि-व्याधियों के निर्माण-स्थान का भी शोधन कर लिया। वज्राग्नि की ज्वाला में जिन्होंने आधि-व्याधियों के स्रोतों का शोधन कर डाला है, ऐसे योगाभ्यासी व्यक्ति के जीवन में फिर एक घटना घटती है, कुण्डलिनी नाम की मशाल स्वयं ही जल उठती है।

[कुण्डलिनी एक शक्ति है। योगसूत्रों में, ईशादि दशोपनिषदों में 'कुण्डलिनी' शब्द नहीं मिलता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'देवात्मशक्ति नाम से इसका उल्लेख है। आयुर्वेद व योगशास्त्र दस प्रकार के अग्नि का शरीर में होना बताते हैं। उनमें प्रमुख हैं पञ्चप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) इन पञ्चप्राणों पर योगाभ्यास द्वारा जिन्होंने विजय पा ली है। उनके शरीर में वह 'देवात्मशक्ति' जागृत होती है।

पहले आधारचक्र में वह प्रदीप्त होती है। इस शक्ति की प्रभा में फिर सुषुम्णा में प्रवेश होता है। उस में से ऊपर चढ़ते हुए उत्तमार्ध-मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र रूपी पर्वतशिखर तक पहुँचा जाता है उस कुण्डलिनी के प्रकाश में। नाथ-पन्थ में शिवशक्ति का सामरस्य आत्मोल्लास कहलाता है।

उत् याने ऊपर और श्रेष्ठ, उत् का अर्थ ब्रह्म भी है। इसीलिये उदासीन-उत् में-आसीन-याने जिनकी वृत्ति ऊपर चढ़ गयी है, जो ब्रह्म स्वरूप में आसीन अवस्थित है : अस्मद्-युष्मत् प्रत्यय (मैं-तुम-वह आदि भेद दर्शन) से ऊपर उठ कर 'एक' में स्थित वृत्ति है; उसी का संकेत है यहाँ]

वृत्ति ऊर्ध्वमुखी होकर ब्रह्मरन्ध्र-शिखर पर प्रतिष्ठित हो गयी है।

नवद्वारांचां चोचकीं। बाणूनि संयतीची आडवंकी।
उघडली खिडकी। ककारांतींची ॥५२॥

प्राणशक्ति चामुंडे। प्रहारूनि संकल्पमेंढे।
मनोमहिषाचेनि मुंडें। दिधलीं बळी ॥५३॥

शरीर के नव द्वारों पर उन्होंने यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहारादि की चौकियाँ बैठा दी हैं। इसलिये शरीर में साम्राज्य है संयति अर्थात् संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) की अवस्था का। इस साम्राज्य में प्राणशक्ति नाम की जो चामुण्डा देवी है (जिसे कुण्डलिनी रूप से समझा जाता है) उसकी सहायता से उसके सामने बलि भेंट चढ़ाई जा रही है। संकल्प-विकल्प नामक भेड़ लाये हैं। (भेड़ बड़ी डरपोक होती है, उसी तरह संकल्प-विकल्प बड़े कायर, भीरु इसीलिये अस्थिर होते हैं इनकी गति चञ्चल होती है) उनका बलि दे दी। फिर इनसे कहीं अधिक शक्तिशाली और बृहत्काय मन-महिष (भैंसे) के मुण्ड (अहङ्कार) की बलि चढ़ायी ॥५३॥

चन्द्रसूर्या बुझावणी। करूनि अनाहताची सुडावणीं।
सतरावियेचें पाणी। जिन्तिलें वेगें ॥५४॥

तब चन्द्र-सूर्य (इड़ा-पिंगला) नाड़ियों में इस प्रकार का सन्तुलन आ गया, कि उससे अनाहत नाद जागृत हुआ, फिर सत्रहवीं कला का पाणिग्रहण करते हैं—ब्रह्मरन्ध्र में झरने वाले अमृतरस का पान करते हैं।

मग मध्यमा-मध्यविवरें। तेणें कोरिवें दादरें।
ठाकिलें चवरें। ब्रह्मरन्ध्रीचें ॥५५॥

वरी मकारात सोपान। तें सांडोनिया गहन।
काखे सूनियाँ गगन। भरलें ब्रह्मीं ॥५६॥

ऐसेनि जे समबुद्धीं। गिळावया सोहं सिद्धीं।
आंगवितातिं निरवधी। योगदुर्गें ॥५७॥

इडा पिंगला नाड़ियों को छोड़कर सुषुम्ना में प्रवेश करके सभी द्वारों चक्रों को खोजते-भेदते हुए ये योगी मध्यनाल-मध्यम विवर का सोपान चढ़ के शून्य में पहुँचते हैं तो उसे अपनी काँख (बगल) मे दबाकर आगे बढ़ते हैं। (भक्तों को वहाँ 'श्रीगुरु' माँ झूला झुलाती हैं, पर योगी अपने पुरुषार्थ से वहाँ पहुँचकर आगे बढ़ते हैं। शून्य में—आकाश तत्त्व में अवश्य ही बहुत आनन्द है, वहाँ शब्द सो जाते हैं, नाद सो जाते हैं, ध्वनि-लोप होता है, सब गतियाँ शान्त हो जाती हैं, ऐसे शून्य में बड़ा

सुख है लेकिन योगाभ्यासी व्यक्ति इससे आगे बढ़ता है। छठे अध्याय में महाराज ने इसे बड़ी गहराई और तफसील से समझाया है। वहाँ कहा है कि सभी शून्यों का निचोड़-निष्कर्ष रूप एक महाशून्य गगन हृदय में है।) गहन गगन को बगल में दबाये ये योगाभ्यासी आगे सोपान चढ़ते हुए ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाते हैं। शक्ति शिव में मिलने के लिए समरस होने के लिए इतना परिश्रम करती हैं। शिव तो अकर्मावस्था में हैं।

[प्रत्येक व्यक्ति में नरत्व और नारीत्व है जिसे शिवत्व शक्तित्व के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। उसे आज के पाश्चात्य मनोविज्ञान में Male and Female elements कहते हैं। मनुष्याकृति में जिसने जन्म लिया उसमें ये दोनों तत्त्व हैं, एक साक्षित्व का तत्त्व है और एक क्रियातत्त्व है। इन दोनों का विलग रहना विरह होना बन्धन है, और दोनों का मिलन होना मुक्ति है। दोनों का सन्तुलन स्वास्थ्य का रहस्य है। आज के Psychologists कहते हैं—"Mental health is the result of the balance between the male and the female elements in the body."ये male-female elements biological भी हैं, neurological भी हैं, Psychological भी हैं। यह आज की भाषा है। इसी का रहस्य निरूपित हुआ है भारत में नाथ-पन्थ के ग्रन्थों में, और बड़ी सुगम रीति से महाराज उसे कह रहे हैं।]

आकाश शिवतत्त्व का प्रतीक है और वृत्तियाँ व गतियाँ शक्तितत्त्व की प्रतीक हैं। योगाभिलाषी साधक इस शून्य को भी पीछे छोड़ कर आगे बढ़ते हैं ब्रह्मभावमें लीन होने के लिये। 'सोऽहं' सिद्धि यानी 'मैं वही हूँ" ब्रह्मभाव को सिद्ध करने के लिये ये व्यक्ति योग दुर्ग के सब द्वारों को (चक्रों को) एक-एक करके पार करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। अपने शरीर से निरवधि पुरुषार्थ करते हैं।

आपुलिया साटोवाटीं। शून्य घेती उठा उठीं।
तेही मातेंचि किरीटी। पावती मा॥५८॥

हे किरीटी! अपने आप को तौल में बदले में रखते हुए, अपने आप की कीमत चुकाते हुए, ये जो योगी हैं वे इतनी लम्बी यात्रा करके सोपान चढ़ते हुए अन्त में मुझे ही पाते हैं।

वांचूनि योगाचेनी बळे। अधिक कांही मिळे।
ऐसे नाहीं आगळे। कष्टचि तया॥५९॥

इसके सिवा, योग के बल से और कुछ अधिक विशिष्ट वस्तु उन्हें प्राप्त होती हो ऐसा कुछ भी नहीं है लेकिन एक बात है कि उन्हें कष्ट अवश्य होता है। सगुण भक्ति में कष्ट नहीं है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म-स्वरूप को स्वयं अपने पुरुषार्थ से जानना व उसी भाव को धारण करना चाहने वाले जो (अज्ञात-अदेखे-अपरिचित के प्रति) प्रणति शरणागति नहीं अपनाते, और स्वयं प्रयत्नपूर्वक यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहारपूर्वक समाधि पर्यन्त पहुँचते हैं वे भी मुझे ही पाते हैं। दोनों विधाओं की भक्ति की फलश्रुति एक ही है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

जो मनुष्य देह में आये हुए हैं उन सामान्य जन के लिये ज्ञानेश्वर महाराज कह रहे हैं। विद्वज्जनों के द्वारा जाने वाली उपासना का भी वर्णन कर दिया। पर वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं।

जिहीं सकळभूतांच्या हितीं। निरालम्बीं अव्यक्तीं।
पसरलिया आसक्ती। भक्तीवीण ।।६०।।

तयां महेन्द्रादिपदें। करिताती वाटवधें।
आणि ऋद्धिसिद्धींचीं द्वन्द्वें। पडोनि थाती ।।६१।।

दूसरे एक दृष्टिकोण से योग व भक्ति को देखा जा रहा है। समस्त भूतों (प्राणियों) का हित साधने के लिये, जो अव्यक्त अनन्त है, उसमें जो आसक्त हो गये प्रेमभक्ति के बिना, उन्हें क्लेश होता है। इसके अलावा एक और वैगुण्य है। आप जो भी क्रिया-प्रक्रिया करेंगे उसमें से शक्ति निर्माण होती है जो उपभोग के बिना शान्त नहीं होती। योगमार्ग से जो अव्यक्तोपासना करते हैं उनके रास्ते में आकर ऋद्धि-सिद्धि रुकावट डालती हैं। बड़ी मोहक होती हैं ये सिद्धियाँ। इन्हीं को लोक भाषा में कहा अप्सरायें। 'अप्सरायें आती हैं' का अर्थ लोग समझते हैं कि कोई सुन्दरी-स्त्री देह में आती हैं। वह नहीं; ऋद्धि-सिद्धि नाम की शक्तियाँ उनके शरीर में सञ्चार करने लगती हैं। इन ऋद्धि-सिद्धियों का उपयोग यदि लौकिक कार्यों में करने लगे तो ख्याति होती है प्रतिष्ठा मिलती है, बहुत लोग अपनी विविध सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये आने लगते हैं, फिर सम्पत्ति और वैभव की सामग्री प्रतिदान में

देने (चढ़ाने) लगते हैं। "सिद्ध पुरुष" "पहुँचे हुए महात्मा" कहने लगते हैं। उस सन्मान व वैभव के सुख का आकर्षण हो जाता है। यह सब शक्तिसञ्चार के फल हैं। कोई भी शक्ति अपने भीतर सञ्चरित हो तो उसका एक सुख व नशा होता है। यह योगमार्ग का एक वैगुण्य है।

कामक्रोधांचे विलग। उठावतीं अनेग।
आणि शून्येसीं आंग। जुंझवावें कीं ॥६२॥

जब आप किसी शक्ति को उपयोग में लेते हैं तब वह शक्ति क्रियाशील होने में (यदि आधार पूरी तरह शुद्ध न रहा हो तो) काम-विकार जगाती है। जिसने भी अपने तन-मन-बुद्धि के सम्यक् सम्पूर्ण शोधन व उच्च विकास के बिना कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के प्रयास किये; यम-नियम से लेकर संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) तक को अपने जीवन क्रम में आत्मसात् किये बिना, किसी कृत्रिम उपाय से, या शक्ति-पात जैसे shortcut द्वारा कुन्डलिनी शक्ति को जगाने का प्रयत्न किया है, उनका काम-विकार सामान्यजनों से शतगुणित बढ़ा हुआ प्रकट होने लगता है। किसी का काम-विकार प्रबल होता है, किसी का क्रोधविकार प्रबल होता है। कृत्रिमरीति से शक्ति का सञ्चार होता है तो वे शक्तियाँ शरीर-मन बुद्धि के साथ समरस नहीं हो पातीं। उनकी मस्ती आ जाती है। मस्ती एक विकृति है आत्मा का स्वभाव सन्तुलन है। जहाँ मस्ती है—सन्तुलन खो गया है—वहाँ अध्यात्म नहीं है। वे बीच रास्ते में अटके-भटके हुए जीव हैं। ऐसे काम क्रोध आदि के विकार-आवेग जो ऋद्धि-सिद्धियों व शक्तियों के जागने से आने लगते हैं यह तीसरा दोष है।

योगपथ का चौथा भयस्थान है—एक विराट् शून्य दशा में पहुँचना।

(A Giegentic emptiness in the the thought-process.) विचार-प्रक्रिया के शान्त होने पर एक भारी शून्य सामने आता है। उस शून्य में से लौटते भी नहीं बन पड़ता, और (भीतर शुद्धि बल न हो तो) उसे भेद कर आगे निकलना भी नहीं हो पाता। उस शून्य के साथ मुठभेड़ होती है, लड़ना पड़ता है।

ताहाने ताहानचि पियावी । भुकेलियां भूकचि खावी ।
अहोरात्र वावीं ॥ मवावा वारा ॥६३॥

प्यास लगे तो प्यास को पीना, भूख लगे तो भूख को खाना पड़ता है, जी घबराने लगे तो अपने अन्दर के प्राणों को ही औषधि बना कर खाओ ! ऐसी साधना योग-मार्ग में करनी पड़ती है ।

उन्निद्रेचिये पहुडणें । निरोधाचें वेल्हावणें ।
झाडासि साजणें । चावळावें गा ॥६४॥

नींद न लेना (उन्निद्रा) ही सोना है । [योगाभ्यास में निद्रा को उत्तरोत्तर घटाते जाते हैं । (पाण्डिचेरी में श्रीमाँ को जिन्हों ने देखा हो वे जानते होंगे कि रात्रि में तीन घण्टे और आखिरी दिनों में तो डेढ़ घण्टे से अधिक निद्रा वे लेती ही नहीं थीं । मैंने सन्त तुकड़ोजी महाराज को देखा है, कभी भी तीन घण्टे से अधिक निद्रा नहीं लेते थे । अमर कण्टक में स्वामी सीतारामदास महाराज (योगी भक्त) को देखा जब वे १२० वर्ष के थे (१६५ वर्ष की आयु तक शरीर में रहे) ठाकुर रामकृष्णपरमहंस के समकालीन थे, गंगा के एक तट पर ठाकुर की साधना चलती, दूसरे तट पर सीतारामदासमहाराज की । वे भी डेढ़ घण्टे से अधिक निद्रा नहीं लेते थे—यह मैंने देखा है । ऐसे योगी को समाधि में ही निद्रा से होने वाला विश्राम व पोषण मिल जाता है ।] इस तरह योगाभ्यास बड़ा कठिन-विकट है अर्जुन !

यहाँ वृतियों का निग्रह, निरोध ही मन बहलाने का साधन है । वृक्ष को छाया देना है । उन्निद्रा में नींद लेना है, भूख को खाना है, प्यास को पीना है, शीत को ओढ़ना है ।

शीत वेढ़ावें । उष्ण पांघुरावें ।
वृष्टीचिया असावें । घरा आंतु ॥६५॥

[१९७५ में हम गङ्गोत्री रहे थे १५ दिन, वहाँ से गोमुख गये थे । गोमुख में दिगम्बर रहने वाले एक साधु-बाबा की त्वचा बहुत मोटी हो गयी थी हमने बाबा से पूछा कि "महाराज ! ठण्ड नहीं लगती यहाँ आप को ?" तो बोले—"हम ठण्ड को ओढ़ लेते हैं न, इसलिये हमें नहीं शीत लगती ।] शीत को अपने ऊपर लपेट लेते हैं, उष्णता को ओढ़-बिछा लेते हैं । वर्षा रूपी घर में घुस जाते हैं ।

यहाँ भी स्मरण आता है—केरल प्रदेश में विनोबाजी की भूदान-यात्रा का प्रसङ्ग। भयानक वर्षा हो रही थी। मैं तो नई-नई युनिवर्सिटी से निकली थी, पदयात्रा में चल रही थी पर 'रेनकोट' व छाता आदि से 'लैस' थी। विनोबाजी ने एक नजर में देख लिया था सब साथ-साथ चलने वालों को। दो चार मील चलने के बाद 'विमलानन्द' को बुलवाया। मैं गई तो बोले—"यह सिर पर क्या है?" मैंने कहा "छाता है। क्योंकि वर्षा हो रही है।" विनोबाजी बोले—"अरे पगली! जिस जल को पृथ्वी का भी स्पर्श नहीं हुआ है ऐसे अमृत की वर्षा हो रही है और तुम उससे बचते हुए छाता लगाये घूम रही हो! यह युनिवर्सिटी की मूर्खता है! यह सिखाया गया है वहाँ। ....हटाओ छाता! अरे राजाओं का अभिषेक करने के लिये सप्तसागरों का जल लाना पड़ता है, यहाँ तो स्वयं अमृत का अभिषेक हो रहा है, तुम कैसे नादान हो कि उससे बचने को छाता खोले हो?" विनोबाजी खुलेबदन चले हैं वर्षा में। इस तरह वर्षा के मकान में घुसना योगी लोग जानते हैं।

> किंबहुना पांण्डवा। हा अग्निप्रवेशु नीच नवा।
> भ्रतारेंवीण करावा। तो हा योगु ॥६६॥

अर्जुन! यह तो रोज का अग्नि प्रवेश है। सती तो जीवन के अन्त में एक बार अग्नि प्रवेश करती है, वह भी पति के साथ। यहाँ (योग पथ में) तो रोज अग्नि-प्रवेश करना है, कोई साथ भी नहीं है। योगियों के सामने कोई भी आलम्बन नहीं।

> एथ स्वामीचें काज। ना बा पिकें व्याज।
> परि मरणेसी झुंज। नीच नवें ॥६७॥
>
> ऐसे मृत्युहूनि तिख। कां घोंटे कढत विख।
> डोंगर गिळितां मुख। न फाटे काई ॥६८॥

यहाँ स्वामी का साथ नहीं, अन्य कोई निमित्त या प्रयोजन नहीं, किसी का ऋण चुकाना नहीं। फिर भी रोज-रोज मृत्यु से जूझना है।

ऐसे विकट कष्टकर मार्ग से तू क्यों जायेगा अर्जुन! भक्ति का मार्ग तो सीधा-सरल-सुखद है, वही पकड़ ले! दोनों ही मार्गों के अन्त में प्राप्ति तो मेरी ही होने वाली है।

मृत्यु से भी तीखा और अग्नि से भी अधिक उष्ण खौलता-गरम विष पीने जैसा यह योगमार्ग है। पर्वत निगलने चलें तो क्या मुँह फटेगा नहीं ?

म्हणोनि योगाचिया वाटा। जे निगाले गा सुभटा।
तयां दुःखाचाचि वाटा। भागा आला ॥६९॥

इसलिए अर्जुन ! जो अव्यक्त में आसक्त होकर ज्ञान-योगमार्ग से चलते हैं उनके भाग में क्लेश ही क्लेश आता है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी में अद्वैत दर्शन को मधुर बनाकर रखा गया है। प्रेम-भक्ति को पूर्ण पुरुषार्थ—पञ्चम पुरुषार्थ कहने वाले ये प्रथम मधुराद्वैत प्रवर्तक हुए। इसीलिये मुख्य विषय भक्ति का होते हुए भी प्रसङ्गोपात्त जिन शास्त्रों का विवेचन करना पड़ता है उन्हें ज्ञानेश्वर महाराज अपनी प्रयोगपूत अनुभवसिद्ध वाणी से निरूपित करते हैं।

यहाँ व्याख्या चल रही है—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"—

इस श्लोक की।

जो देहधारी (सामान्य) मनुष्य हैं उनके लिये अव्यक्त की उपासना करना कितना कठिन, क्लेशमय, कष्टसाध्य है यह बताया गया। अब उसका उत्तरार्ध हम सुनेंगे। मैं देख रही हूँ कि इस अध्याय में जो प्रथम भाग है, उसमें उपासना काण्ड आता है, और जो इस अध्याय का उत्तरार्ध है उसमें ज्ञानकाण्ड आता है भक्ति के साथ-साथ।

देह में मढ़ी हुई-जड़ी हुई हैं इन्द्रियाँ। इस पञ्च महाभूतों से बनी काया में जो इन्द्रियग्राम-इन्द्रियसङ्घात (ग्यारह इन्द्रियों का एक परस्पर मिला जुला समूह) है, वह संस्कारों से बना हुआ है, और संस्कारों में गति है। जो कर्म आधे किये गये, अनिच्छा से किये गये, जिनके फल प्राप्त न होने से चित्त में अतृप्ति रह गयी, या तो जिसके प्रति वितृष्णा हो गयी—ऐसे सभी सुख-दुःख, मान-अपमान, अतृप्ति-अर्धतृप्ति के संस्कार लेकर यह देह बनता है। इस संस्कारों को चाहिये कोई विषय। 'प्रारब्धस्य भोगादेव क्षयः'।

किसी विषय से जुड़े बिना उपासना करना बहिर्मुखी इन्द्रियों के लिये, और इन्द्रियों के साथ जुड़े चित्त के लिये बड़ा कठिन होता है। योग का प्रारम्भ है चित्तवृति के निरोध से। वह चित्तवृत्ति-निरोध हो सके इसके लिये इन्द्रियों को निग्रह की शिक्षा दी जाती है। निग्रह मनुष्य को दमन व आत्मपीडन जैसा प्रतीत होता है, इसलिये क्लेश है।

पाहेंपां लोहाचे चणें। जैं बोचरिया पडती खाणें।
तैं पोट भरणें कीं प्राणें। शुद्धीं म्हणो ॥७०॥

म्हणोनि समुद्र बाहीं। तरणे आथि कें ही।
कां गगनामांजीं पाई। खोलिजतु असे ॥७०॥

बळघलिया रणाची थाटी। आंगीं न लगता काठीं।
सूर्याची पाउटी। कां होय गा ॥७१॥

यालागीं पांगुळा हेवा। नह्वे वायुसि पाण्डवा।
तेवीं देहवन्ता जीवां। अव्यक्तीं गति ॥७३॥

जिसके मुँह में दाँत नहीं हैं ऐसे वृद्ध व रोगी को भूख लगी हो और उसे खाने को दिये गये हों लोहे के चने। वह बिचारा चबा नहीं सकता, निगल भी नहीं सकता, और तेज भूख लगी होने से विवश होने के कारण मुँह में आयी वस्तु उगल भी नहीं सकता। वैसी हालत होती है सामान्य जन यदि अव्यक्तोपासना करने जाय तो। क्योंकि वहाँ विषय बनाने योग्य कुछ है ही नहीं, वहाँ दृश्य भी स्वयं बनना है द्रष्टा भी स्वयं ही होना है, उपभोग की वस्तु भी स्वयं, उपभोक्ता भी स्वयं ही। ऐसे लोहे के चने बिना दाँत का व्यक्ति चबाये तो पेट तो नहीं ही भरेगा, प्राणान्त भले हो जाय। वैसे शरीर-मन-बुद्धि की-अन्तर्बाह्य उपकरण की सबलता व पूरी तैयारी न हो तो योगाभ्यास में खतरा ही है प्राणान्त तक का, या बीच में ही इन्द्रिय-मन-बुद्धि के थक जाने का। यही सूचित कर रहे हैं महाराज।

किसी ने सागर देखा, और सोचने लगा कि "मैं तो बहुत अच्छा तैराक हूँ; चलूँ—अपने बाहुओं से ही समुद्र के पार तक तैर जाऊँ!" उसकी जो दशा होती होगी वही उनकी होती है जो निर्गुण-निराकार को उपासना का विषय बनाना चाहते हैं, वे वैसे ही हैं जैसे समुद्र को तैर कर पार करना चाहने वाले, या गगन में अपने पाँवों से चलना

चाहने वाले। अरे भाई! पाँवों से तो धरती पर चला जाता है। चरणों में निहित गति और धरती में समाई गुरुत्वाकर्षण की शक्ति इन दोनों का संयोग होता है तभी 'चलना' सम्भव हो पाता है। दोनों के बिना 'चलना' नहीं हो सकता।

अव्यक्त में आसक्त होकर उसी की उपासना जो करना चाहते हैं उनका काम बाँहों से सागर को तैरने या गगन में पाँवों से चलने जैसा ही है। [और उपमा-उदाहरण देते हैं—]

किसी ने सोचा—"मैं समराङ्गण में लड़ने जाऊंगा लेकिन एक भी घाव नहीं लगना चाहिए।" वह असम्भव है। युद्ध में उतरने का साहस हो तो, सीने पर व सर्वाङ्ग में घाव खाने की, सहन करने की अपनी चित्त की तैयारी रहनी चाहिए। वैसे ही जो अव्यक्त के पथ पर—योगाभ्यास के पथ पर चलना चाहें उनकी चित्त की तैयारी होनी चाहिए कि शून्य से जूझना होगा, इन्द्रिय-मन-बुद्धि को कोई आलम्बन या सहारा नहीं मिलेगा, किसी भी तरह का कोई 'रञ्जन'-'पोषण' नहीं मिलेगा। क्लेश के बिना योगाभ्यास भी सम्भव नहीं।

जैसे सूर्यमण्डल को भेद कर पार जाना सम्भव नहीं वैसे शून्य को लांघना देहधारी (देहात्मबुद्धि वाले·देहभाव-मनोभाव में बन्दी मनुष्य) के लिए सम्भव नहीं है।

किसी के चित्त में इच्छा (असूया जैसी) उत्पन्न हुई कि पवन की गति से भी बढ़कर वेग से मैं चलूं पवन से भी आगे निकल जाऊँ? यह असूया-ईर्ष्या तो पङ्गु है (क्योंकि कभी भी सम्भव न हो सकने वाली है) वह कामना या हेतु कभी सफल नहीं हो सकता, वैसे ही अव्यक्त में गति करने, अव्यक्त को चीरते हुए-भेदते हुए पार जाने की देहधारी की वासना सर्वथा निरर्थक है। अनर्थकारी भी हो सकती है।

ऐसाहीं जरी धिवसा। बांधोनिया आकाशा।
झोंबती तरी क्लेशा। पात्र होती ॥७४॥

लेकिन यदि किसी ने यह साहस किया, और सब क्लेश सहन करते हुए आकाश (चिदाकाश) में चलने ही लगे तो उन्हें कष्ट तो होने ही वाला है। योगाभ्यास भक्ति के जैसा सरल नहीं है, जनसुलभ नहीं।

म्हणोनि येर ते पार्था। नेणतीचि हें व्यथा।
जे कां भक्तिपंथा। बोटंगले ॥७५॥

हे अर्जुन ! तुमने पूछा था कि दोनों मार्गों में से किस पर चलने वाले मुझे अधिक प्रिय हैं ? तो उसका उत्तर यही है कि दोनों ही अन्त में मुझे पाते हैं किन्तु जो वीर साहसी योगपथ से अव्यक्त-उपासना के पथ से चलते हैं उन्हें बहुत क्लेश-कष्ट सहने पड़ते हैं और जो दूसरे हैं जिन्होंने (भक्ति पथ पकड़ लिया है) उन्हें किसी प्रकार का कोई क्लेश-कष्ट नहीं होता। व्यथा नहीं होती। वह भक्तिपथ क्या है ? इसकी व्याख्या अब करने जा रहे हैं महाराज।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

कर्मेन्द्रियें सुखें। करितीं कर्मे अशेषें।
जियें कां वर्णविशेखें। भागा आली ॥७६॥

यह ग्रन्थ लिखा गया है ८०० वर्ष पहले। जब वर्ण-व्यवस्था की आज की सी दुरवस्था नहीं रही होगी। प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ निरपेक्ष सत्य का निरूपण होता है, ज्ञानेश्वर महाराज जैसे लिखने वाले हों तो निवेदन होता है। ('प्रतिपादन' जैसा अभिनिवेश उनमें नहीं है।) और कुछ देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप जो धारणायें-मान्यतायें होती हैं, वे भी बीच-बीच में आ जाती हैं। ज्ञानेश्वर महाराज के ग्रन्थ में भी कुछ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं ऐसे कथन हैं, जो उस समय के समाज की मान्यताओं के अनुसार हैं।

जितनी कर्मेन्द्रियाँ हैं उनके भाग में वर्ण-विशेष के नाते जो भी कर्म आये हों, वे सभी कर्म सुख-पूर्वक इन्द्रियाँ करती रहती है। विधि का पालन करते हैं, निषेध का ध्यान रखते हैं—निषिद्ध को छोड़ देते हैं। शास्त्र का अर्थ है—शासन करने वाले नियम, जो सब पर लागू होते हैं। शास्त्रों में कुछ विधि-निषेध कहे गये हैं। उनमें कुछ देशकाल-परिस्थिति-सापेक्ष हैं और कुछ इनसे निरपेक्ष सर्वदा मान्य भी हैं। तो, भक्तिपथ पर चलने वाले-अपने-अपने वर्ण के स्वधर्म के अनुसार जो विहित हैं वे कर्म करते रहते हैं, निषिद्ध को छोड़ देते हैं। लेकिन इस

करने और छोड़ने के साथ कुछ और भी विशेषता होती है उनमें। बड़ी सुन्दर युक्ति उनके हाथ में है कर्म करते हुए निरन्तर मेरे समीप बने रहने की, कि वे उन कर्मों का फल अपने लिये नहीं चाहते। कर्म का फल वे मुझे दे देते हैं—भगवदर्पण कर देते हैं। शास्त्र विहित कर्म करना और निषिद्ध को छोड़ना—दोनों ही वे भगवदर्पण कर देते हैं। न विहित कर्म के 'कर्ता' स्वयं बनते हैं न निषिद्ध के 'अकर्ता'। किसी भी तरह 'कर्ता' भाव में रहते ही नहीं। इसीलिये उन कर्मों के फल के 'भोक्ता' भी वे नहीं होते। जिन्होंने कर्म और फल दोनों प्रभु को सौंप दिये, उनके चित्त व चेतना पर उन कर्मों का कोई संस्कार नहीं रह जाता। उनके चित्त में कर्म के बारे में कोई प्रियता-अप्रियता नहीं रहती। ["अनुकूल-वेदनीयं सुखम्" 'प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्' अनुकूल प्रतीत होना ही सुख है, प्रतिकूल प्रतीति दुःख है; यह अनुकूलता-प्रतिकूलता ही प्रियता-अप्रियता की भावना लाती है जो राग-द्वेष को और उनके द्वन्द्व को जन्म देती है।]—चित्त में समभाव रहता है। शास्त्र (के माध्यम से प्रभु) ने जो करने को कहा वह किया जाता है, जो न करने को कहा वह नहीं किया जाता। न 'करने' का अभिमान है, न ही 'न करने' या छोड़ने का दर्प है। फल प्रभु को दे दिया है इसलिये कर्मबन्ध का क्षय होता चला जाता है। जो कर्म-संस्कार लेकर काया उत्पन्न हुई थी—उन कर्मों का क्षय होता है और नया कर्म का बन्धन मेरे चित्त में बनता नहीं है, क्योंकि वह अपने लिये कर्मफल चाहता नहीं। "मैं कर्मफल का त्याग करता हूँ"—ऐसा अभिमान नहीं करता, सहज रूप से कर्म और उसका फल 'ईश्वरार्पणमस्तु' कहता रहता है। इसलिये कर्म के संस्कार की कोई लीक उसके चित्त पर नहीं पड़ती कि उसके लिये फिर से काया धारण करनी पड़े।

विधीतें पाळित। निषेधातें गाळित।
मज देऊनि जाळित। कर्मफळें ॥७७॥

ययापरी पाहीं। अर्जुना माझ्या ठाईं।
संन्यासूनि नाहीं। करितीं कर्मे ॥७८॥

इस प्रकार उनका कर्म करना ही अकर्म बन जाता है अर्जुन! क्योंकि उन्होंने कर्म एवं फल का सम्यक् न्यास कर लिया है, समुचित स्थान (ईश्वर) में कर्म का कर्तृत्व और फल (भोक्तृत्व) प्रतिष्ठित कर

दिया है। इस तरह कर्म करते हुए ही उन्होंने अकर्मावस्था प्राप्त कर ली है।

आणिक ही जे जे सर्व। कायिक वाचिक मानसिक भाव।
तयां मीवांचूनि धांव। आनीती नाहीं ॥७९॥

कर्म के फल ही नहीं, कर्म के पीछे के भाव व हेतु भी वे मुझे ही सौंप चुके होते हैं। केवल कर्म कर्त्ता-भोक्ता होना यानी करने का अहङ्कार और फल की इच्छा—इसी से कर्म बन्धनापादक नहीं बन जाता, बल्कि कर्म करने के पीछे जो हेतु रहता है, जो भावना रहती है, वे भी बन्धन के कारण होते हैं। कर्म करने के पीछे (कर्तृत्व और फल की वासना के सिवा) जो कायिक-वाचिक-मानसिक भाव मुझे छोड़कर कहीं जाते ही नहीं, उनके प्रत्येक भाव का मुख मेरी ओर ही रहता है। कर्म करने से पहले, और कर्म करने के बाद—उनके लिये कोई लक्ष्य नहीं है जीवन का मेरे सिवा, (वासुदेव यानी परमात्मा के सिवा,

"वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते॥"—

जिसके वास से अखिल विश्व सुवासित है ऐसे वासुदेव यानी परमतत्त्व के सिवा) उनके कायिक-वाचिक-मानसिक भावों का कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है।

"कान न रूँधौं, आँख न मूँदौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन सों हँसि-हँसि देखौं, सुन्दर रूप निहारौं॥
साधो! सहज समाधि भली।" —कबीर

गोपियाँ भी कहती हैं उद्धव से कि हमें आँख बन्द करके एकान्त में बैठना, कान बन्द कर लेना नहीं पड़ता, एक जो मन था वह तो बिक गया, श्याम के पास चला गया, इसलिये अब अलग कोई उपासना नहीं करनी पड़ती, घर के सब काम करते हुए निरन्तर खुले नैनों से श्याम का सुन्दर रूप सब जगह दिखाई देता रहता है, हमारी आँखों में श्याम समाये हैं। श्याम हमारी आँखों के भीतर हैं।]

कायिक-वाचिक-मानसिक सभी भाव अनन्य रूप से एकमात्र प्रभु से ही जुड़े हुए हैं इसलिये कर्म भी उन्हीं के अर्पण, कर्तृत्व उन्हीं के

अर्पण, कर्म का फल और सबके पीछे निहित सब भाव भी उन्हीं के अर्पण हुए रहते हैं। इससे बढ़कर क्या कोई संन्यास हो सकता है ?

ऐसे जे मत्पर। उपासितीं निरन्तर।
ध्यानमिषें घर। माझे झालें ॥८०॥

जयांचिये आवडी। केली मजशीं कुळवाडी।
भोग मोक्ष बापुडीं। त्यजिलीं कुळें ॥८१॥

ऐसे अनन्ययोगें। विकले जीवें मनें आंगें।
तयांचे काथि एक सांगें। जे सर्व मी करीं ॥८२॥

इस प्रकार जो मत्परायण हो गये हैं; जिनके लिये मेरे सिवा कोई मन का भी विषय नहीं रहा—

("विषय ही सारे हुए नारायण") तुकाराम ने गाया है कि मेरे सामने कोई 'विषय' रहा ही नहीं, सब नारायण ही हो गये, जहाँ नज़र पड़ती है वहाँ नारायण ही दिखाई पड़ते हैं।

"जन्म लेना पड़ता जिस वासना के सङ्ग से वही सारी हो गई हरि रूप !"
"तुका कहे हम तो हैं विट्ठल के दास, पिण्ड में किया ग्रास ब्रह्माण्ड का जी !"

ब्रह्माण्ड का ग्रास बनाकर हम पचा गये हैं; सारी वासनायें ही हरि रूप हो गयी हैं ऐसे हम विट्ठल के दास हैं; हमारे लिए कहाँ कैसा बन्धन ? कैसा जन्म-मरण ? और किससे मुक्ति ?

"बीज भूनकर कर दी लाई ! हमारा अब जन्म-मरण नहीं !"
"मिश्री बन गया तब गन्ना कैसा ? हमारा फिर गर्भवास कैसा ?"

शक्कर-मिश्री बनने के बाद उसी रस का फिर गन्ना नहीं बन सकता, वैसे प्रभु प्रेम में हमारे सब वासना बीज भुन गये हैं, अब हमारा गर्भवास-जन्म-मरण कैसे हो सकता है ?

इस तरह जो मत्परायण बन गये हैं, मत्परायणता ही उनकी उपासना है। उपासना कर्म नहीं रहा, उनके जीवन जीने का शील ही हो गयी उपासना। [यदि मन्दिर-दर्शन-तीर्थस्नान-भजन-पूजन आदि के पीछे प्रभुपरायणता न हो तो वह भक्ति नहीं कसरत हो जायेगी शारीरिक-मानसिक यान्त्रिक निस्तेज क्रिया रह जायेगी।

"कोई क्रियाजड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई ! मोक्ष मार्ग समझें नहीं........"

(कोई क्रियाकाण्ड में उलझे हैं, कोई कोरे ज्ञान में रूखे-सूखे हो रहे हैं, वास्तविक प्रभुपथ कोई समझता नहीं—श्रीमद्राजचन्द्र)।

वास्तविक उपासना है जीवन ही प्रभुप्रीत्यर्थ हो जाना। ऐसे उपासक-साधक-भक्तों का अहर्निश ध्यान मुझमें रहता है, अनुसन्धान का तार सतत मुझसे जुड़ा रहता है, इसलिए मुझे वैकुण्ठ में चैन नहीं है लोग मानते हैं कि मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ, लेकिन मेरा निवास तो मेरे भक्त के हृदय में है। उनका जीवन ही मेरा सच्चा निवास-स्थान बन गया है।

मुझसे उनका लगाव, प्रेम, इतना हो गया है कि वे मुझसे न तो संसार के भोग चाहते हैं; न मुक्ति ही चाहते हैं। [प्रभु के पास प्रभु को छोड़ कर और क्या माँगना है ?

"प्रभु ! दान दीजिये यही ! तेरी विस्मृति न हो कभी !
रुच-रुच कर गाऊँ गुण ! यही मेरा वैभव धन !
न चहूँ मुक्ति धन सम्पदा ! सन्त-सङ्ग देना सदा !"

(मूल मराठी से अनूदित)

तुकाराम कहते हैं "प्रभु हम तुमसे तुम्हारे सिवा कुछ नहीं चाहते। तुम देना ही चाहो तो सदा सन्तसङ्ग देना, और तुम्हारी नित्य स्मृति देना। आनन्दभरित हृदय से तुम्हारे गुण गाते रहें बस ! धन यश तो क्या, हमें मुक्ति भी नहीं चाहिये ! चाहे जितना गर्भवास में डालिये, उससे हम नहीं घबराते ! पर इतना करना कि जहाँ भेजोगे वहाँ सन्त-सङ्ग देना !.......हम तेरा ही नाम गाते रहेंगे, तेरा ही रूप ध्याते रहेंगे, तेरे ही लिये सब कर्म होते रहेंगे—फिर हमें छोड़ कर तुम जाओगे कहाँ ? वही वासुदेव यहाँ कह रहे हैं]

जिन्होंने मेरे प्रेम के सामने बिचारे भोग-मोक्ष आदि को तुच्छ बना दिया है। भक्त के चित्त में से भोग और मोक्ष दोनों की वासना भाग जाती है। (बहुत बड़ी बात कही है। भुक्ति सांसारिक भोग-सुख की वासना मिटना तो कठिन नहीं, मुक्ति की वासना बड़ी सूक्ष्म और श्रेष्ठता का भार लिये होती है, वह छूटना दुर्लभ होता है। पर भक्तों को मोक्ष की भी लालसा नहीं होती। लोगों को बड़ी दया आती है नरसी मेहता और तुकाराम को पारिवारिक व आर्थिक दशा पर;

अकिञ्चन रहना पड़ा; उदर भरने—को अन्न और तन ढकने को वस्त्र तक नहीं था उनके पास। लेकिन वे अपने भीतर ऐसा ऐश्वर्य पा गये थे कि उनके लिये इह लोक के धन-सम्पत्ति और परलोक का मोक्ष—दोनों तृणवत् नगण्य हो गये थे।

ऐसी अनन्यता ही उनका योग है; वे सर्वाङ्ग से बिक चुके हैं मेरे प्रति। ऐसे मत्परायण भक्तों का मैं क्या नहीं करता हूँ अर्जुन? मैं स्वयं दौड़-दौड़कर उनकी सेवा करता हूँ। भक्तों के घर दौड़ कर जाता हूँ। [सच्चा भक्त होना चाहिए। यह नहीं कि एक घण्टा बैठे पूजा में, और बाकी २२-२३ घण्टे मन दौड़ रहा है सांसारिक वासनाओं के पीछे! उनके लिए यह आश्वासन नहीं है।] जो वास्तव में भक्त हैं—जो हृदय-मन-प्राण से मुझे बिक चुके हैं, जिनका मन-वाणी-इन्द्रियाँ-कर्म-सम्पूर्ण व्यक्तित्व सतत मेरे ही अनुसन्धान द्वारा मुझसे जुड़ा रहता है क्षण-पल-भर भी कभी विभक्त नहीं होता—ऐसे मत्परायण भक्तों के लिए मैं सब कुछ करता हूँ; जो उनके हित में हो, उनका कल्याण करने वाला हो।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

किंबहुना धनुर्धरा। जो मातेचिया ये उदरा।
तो मातेचा सोयरा। केतुला पां॥८३॥

तेवीं मी तयां। जैसे असतो तैसियां।
कळिकाळ नोकोनियां। घेतला पटा॥८४॥

हे अर्जुन! गर्भ में धारण किये हुए शिशु के लिए माँ क्या नहीं करती है? सभी कुछ करती है। अपने बालक के लिए कुछ भी करने में माँ को लज्जा नहीं, श्रम का भान नहीं, बच्चा बीमार हो तो दिन-रात जागकर उसकी सेवा करने में माँ कभी थकती नहीं। ऐसा सम्बन्ध अपने बालकों के साथ माँ का हो जाता है कि अपने शरीर-मन-प्राण से उसके लिये जो कुछ कर सके वह करने में उसका आनन्द है। [वात्सल्य के कारण ही तो माँ के शरीर में रक्त से दूध बन जाता है। रक्त दूध में परिवर्तित हो जाता है। That alchemy of life? जीवन का यह रसायन-कल्प कैसा अद्‌भुत है?] हे अर्जुन! वैसा ही सम्बन्ध मेरा मेरे

भक्तों के साथ है। मुझमें से ही तो सब उत्पन्न हुए हैं; पर भक्त ही जानते-देखते-अनुभव करते हैं कि मैं उनकी माता-पिता-धाता-सब कुछ हूँ। उनके लिये मेरा प्रेम कैसा उमड़ता होगा? व्यक्त होने के लिये कितना छटपटाता होगा—इसकी कुछ कल्पना कर सकते हो?

इसलिये जैसे भी हैं मेरे भक्त—अज्ञानी हैं, दुर्गुणी हैं, बार-बार ठोकर खाते हैं, क्रोधवश भी होते हैं—पर जैसे भी वे हों मुझे प्रिय हैं। वे जैसे हैं वैसे ही मेरे हैं। उन्हें यह नहीं कह सकता कि पहले तुम साफ होकर आओ—तब पास बैठने दूंगा! बच्चे को गन्दा-मैला हुआ देखकर माँ उसे साफ करने के लिये दौड़ती है, उसे नहला-धुला कर साफ़ करके फिर गोद में लेती है। उसी प्रकार उन भक्तों के साथ मेरा निजी सम्बन्ध होने के कारण वे जैसे हैं वैसे ही उनको मैं स्वीकार करता हूँ। (बड़ा मधुर शब्द है—'स्वीकार', 'अङ्गीकार'—अर्थात् 'स्व' बना लेना, अपना अङ्ग बना लेना। अपने अङ्गों जितना उन्हें निकट मान लिया। उतनी ज़िम्मेवारी उनकी ले ली।)

मैंने कलिकाल से एक 'करार' कर लिया है, उसे एक 'पटा लिख दिया' है कि मत्परायण होकर जीने वाले व्यक्तियों के साथ तेरा सम्बन्ध नहीं। उनकी मृत्यु की घड़ी हो तो मैं ही जाकर उन्हें अपने पास ले आऊँगा। [मृत्यु को मार कर भक्त कैसे अमर होते हैं इसका संकेत इसमें हैं। भक्त के आगे कलि और काल का वश नहीं चलता। वे तो देह में ही अपनी मृत्यु देख चुके हैं। तुकाराम ने गाया है—

'इसी देह में इन आँखों से मरणोत्सव देखा है मैंने। ऐसों को मृत्यु क्या मारे? मृत्यु तो उनको मारती है जो देह रहते मृत्यु का रहस्य समझते नहीं। इसलिये कहते हैं कि] मेरे भक्त कब के मर चुके! संसार के लिए मर चुके, अपने लिए मर चुके! वे तो मेरे लिये जीते हैं न! इसलिये वे जीतेजी विदेही हो चुके हैं।

एऱ्हवीं तरी माझियां भक्तां। आणि संसाराची चिन्ता।
काय समर्थाची कान्ता। कोरान्न मागे ॥८५॥

तैसे ते माझे। कलत्र हें जाणिजे।
कायिसेनेही न लाजें। तयांचेनि मी ॥८६॥

वैसे भी जो मेरे भक्त हैं, पलभर के लिये भी जो मुझसे विभक्त नहीं, उनको संसार की क्या चिन्ता होगी ? उन्हें संसार से क्या लेना-देना है ? प्रारब्ध है तबतक जीना है। इन्द्रियों में कर्म की गति है तो शास्त्रों के अनुसार कर्म करना है, कर्म बाँधें नहीं—इसलिये उनका फल मुझे सौंप देता है, वृत्तियाँ सतायें नहीं इसलिये सब वृत्तियाँ मेरे साथ जोड़ दी हैं। इसलिये संसार में चिन्ता करने लायक तो उनको कुछ भी है नहीं। कोई समर्थ-सम्पन्न धनी व्यक्ति हो वो उसकी पत्नी क्या भीख माँगने कहीं जाती है ? हे अर्जुन राजा की रानी या समर्थ की पत्नी जिस प्रकार किसी के पास भिक्षा मांगने नहीं जाती, उसी प्रकार मेरे भक्त संसार का, या संसार से, कभी कुछ माँगते-चाहते नहीं। संसार उन्हें देकर भी क्या देगा ? उन्हें मालूम है कि 'सुख-दुःख घट (देह) के साथ ही जन्मे हैं'' इन्हें टाल नहीं सकते हैं। अतः मेरे भक्तों के सम्मुख एक ही ध्येय है—जीवन जीना है, जिसने यह मनुष्य जन्म दिया है, जिसने संसार बनाया, जो संसार के रूप में सामने खड़ा है, उस तत्त्व के साथ तादात्म्य साधना है। वे अपने "प्रभु" से तादात्म्य साधे जीते चले जाते हैं। इसलिये न माँगना है उन्हें, न कहीं से कुछ लेना है। उन्हें चिन्ता कैसी ? चिन्ता तो वह करता है जिसे किसी से कहीं से कुछ चाह है, जो नहीं मिला उसे माँगते रहते हैं, जो मिला हुआ है उसे सम्हालकर रखने की चिन्ता है। ज़िन्दगी चली जाती है संग्रह करने में और संग्रह को सम्हालने में। और किसी कार्य के लिये समय ही नहीं रहता।

अर्जुन समझ ले कि भक्त मेरी भार्या है, मेरा कुटुम्ब है, मेरी कान्ता है। (यह मधुराद्वैत है, मधुर भाव की उपासना बङ्गाल में चैतन्य महाप्रभु ने प्रारम्भ की। वहाँ भगवान् को पति मानते हुए आराधना-उपासना होती है। वह मधुर भक्ति रागात्मिका भक्ति कहलाती है। महाराष्ट्र के वैष्णव-वारकरी सम्प्रदाय के निर्माता ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी के द्वारा मधुर भक्ति को दूसरा रूप दिया। यहाँ स्वयं भगवान् कह रहे हैं कि ये भक्त मुझे कान्ति देने वाले हैं ये मेरी प्रिया कान्ता हैं। भक्त ही तो मुझे नाम देते हैं, रूप देते हैं, मुझे विविध रूपों में सजाते हैं। अन्य भी एक स्थान पर महाराज ने श्रीकृष्णमुख से कहलाया है—

"अर्जुन ! मुझे भक्तों का व्यसन। भक्त मेरे निज ध्यान।
वे कान्ता मैं वल्लभ—जान। धनुर्धर !"

भक्त मेरी प्रिया भार्या कान्ता हैं, इसलिये उनके लिये कुछ भी करने में मुझे लज्जा नहीं। रथ हाँकना पड़े, राजसूय यज्ञ में पत्तलें उठानी पड़ें, घोड़ों की सेवा करनी पड़े—मुझे किसी में लज्जा नहीं होती। (क्या-क्या करते हैं उनके लिये ?—)

जन्ममृत्यूच्या लाटीं। झळंबती इया सृष्टि।
ते देखोनियां पोटीं। ऐसें जाहलें ॥८७॥

इस भवसागर में जन्म-मृत्यु के जो बड़े-बड़े उत्ताल तरङ्ग उठते हैं उन्हें देखकर मेरे भक्त घबराते होंगे। वह देखकर मेरा हृदय विकल हो जाता है। इसलिये मन में ऐसा आता है कि—

भवसिन्धूचेनि माजें। कवणासि धाकु नुपजे।
येथ जरी की माझें। बिहिती हन ॥८८॥

भव सिन्धु का उन्माद देख कर सभी भयभीत होते हैं, मेरे भक्तों को वह भय लगता होगा। यह सोच कर—

म्हणोनि गा पाण्डवा। मूर्तीचा मेळावा।
करूनि त्यांचिया गांवा। धांवतु आलो ॥८९॥

जहाँ मेरे भक्त रहते हों वहाँ दौड़कर चला जाता हूँ। किसी न किसी मानुषी तनु का आश्रय लेकर मैं उनके पास जाता हूँ।

नामाचिया सहस्रवरी। नावा इया अवधारी।
सजूनिया संसारीं। तारू जाहलों ॥९०॥

मेरे सहस्रों नामों की नौकायें बनाता हूँ। मेरा प्रत्येक नाम भव सिन्धु में नौका है। (भक्तों को कहता हूँ—तुम मेरे नाम रूपी नौका में बैठे रहो, बड़ी सरलता से भवसिन्धु के पार पहुंच जाओगे। कोई चिन्ता नहीं करनी है तुम्हें।) उस नौका द्वारा सहज ही भव सिन्धु के पार ले जाने वाला मैं ही उनका तारक—कर्णधार खेवैया नाविक बनता हूँ। मैं मेरे नाम में मूर्त हो जाता हूँ। सन्तों के देह का आश्रय करके मेरा नाम रूपी नौका भक्तों तक पहुँचा देता हूँ, भक्तों को उस नौका में बैठा देता हूँ, मैं स्वयं नाम में उतर आता हूँ; नाम में मेरी शक्ति उतर आती है।

नाम शब्द है, शब्द में नाद है, नाद में अग्नि तत्त्व है; शब्द में अर्थ है, भाव है; नाद में पवन और अग्नि दोनों समाये हैं। पदार्थ विज्ञानवेत्ता बतायेंगे—

The whole cosmos can be reduced to two primary basic principles of sound and light.

सारे विश्व के पदार्थों का विश्लेषण करते जायें तो मूलभूत दो ही तत्त्व मिलते हैं—नाद एवं प्रकाश। नाम की महिमा का आज के वैज्ञानिक आधार से विश्लेषण करें तो पायेंगे नाद एवं प्रकाश।

"नादरूपो महाविष्णुर्नादरूपो महेश्वरः।
नादात्मिका पराशक्तिः सर्वं नादमयं जगत्॥"

उस नाद के मधुरतम रूप हरिनाम में जो अर्थ-भाव-रस है, उसे चखते हुए नाम गाओ तो वह नौका है। यदि बेध्यान रहकर, अन्य-मनस्क-व्यग्र चित्त से अनवधान में रहते हुए नाम लेते हैं तो उसमें निहित प्रभु शक्ति भलीभाँति प्रकट नहीं हो पाती। नाम लेना कोई मौखिक पुनरावर्तन की क्रिया नहीं है, उसके साथ हृदय मन प्राण सब जुड़े हैं वह समग्रता में से खिलने वाला कर्म है। ऐसा नाम-रटन-नाम-सङ्कीर्तन, नाम-जप, नामोच्चार प्रभुमय बना देता है।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्।"

शुद्ध शब्द के अभ्यास अर्थात् बारम्बार उच्चारण की क्रिया में जब सतत अर्थ का भावन होता है तब वह जप कहलाता है। उसी पर वासुदेव ने कहा है कि मैं सजधज कर नामरूपी नौका में उतर आता हूँ और उस नौका में बैठे अपने भक्तों का खेवैया-केवट बनता हूँ भवसागर में से आनन्द पूर्वक तैराते हुए उन्हें पार ले जाता हूँ। नाम के साथ-साथ गुण आते हैं, रूप आता है। शब्दोच्चारण में materialisation of the form को शक्ति है। यह आज के psychic Research करने वालों ने देखा है।

उच्चारण ही नहीं, केवल चिन्तन में विचार हो, निदिध्यास हो तो उसका आविर्भाव हो सकता है। जो 'भव पार' करने की बात है उसे केवल ऊपरी न मानियेगा।

सडे जे देखिले। ते ध्यानकासे लाविले।
परिग्रही घातिले। तरियावरी ॥९१॥

वासुदेव कहते हैं—जो कुटुम्ब-परिवार वाले परिग्रही लोग हैं उन्हें नाम रूपी नौका में बैठा कर मैं पार करा देता हूँ। और जो लोग अकेले हैं—जो ब्रह्मचारी हैं या संन्यासी हैं, उन्हें कहता हूँ— मुफ़्त में नाम की नौका में नहीं बैठना। ज़रा ध्यान का परिश्रम करो! उन्हें ध्यान मार्ग पर चढ़ा देता हूँ।

प्रेमाची पेटी। बांधली एकाच्या पोटीं।
मग आणिले तटीं। सायुज्याच्या ॥९२॥

कोई ध्यान करते-करते थक गये हैं, ध्यान के बल से पार नहीं हो सकते हैं तो प्रेमरूपी तुम्बा या पेटी उनके पेट पर बाँध देता हूँ कि उसके बल या सहाय से वे तैर कर तर सकें, और उन्हें परिश्रम भी न पड़े। वह प्रेम रूपी तुम्बा उन्हें बाँध देता हूँ, फिर उसी के सहारे उन्हें सायुज्य-तट पर ले आता हूँ।

परि भक्तांचेनि नावें। चतुष्पदादि आघवे।
वैकुण्ठींचिये राणिवे। योग केले ॥९३॥

अरे भक्तों के नाम से तो द्विपद मनुष्यों को ही नहीं, चतुष्पद आदि सब इतर शरीरधारियों को भी वैकुण्ठ ले आया हूँ। यह न मानना कि केवल मनुष्य ही भक्त हो सकते हैं। भक्ति के वातावरण में रहे हुए पशु-पक्षी भी भक्त बन जा सकते हें। ऐसे तोते, कुत्ते, घोड़ा, गाय को हमने देखा है कि जिस घर में एकादशी का या सोमवार का उपवास होता हो उस घर के पशु-पक्षी भी उस दिन अपना रोज का चारा नहीं खाते।

मेरे नाम या ध्यान के कारण चतुष्पद प्राणियों में भी इतनी योग्यता आ जाती है कि वे वैकुण्ठ का आस्वादन कर सकें।

म्हणोनि गा भक्तां। नाहीं एक ही चिन्ता।
तयातें समुद्धर्ता। आथि मी सदा ॥९४॥

इसलिये जो सही अर्थ में भक्त होंगे उनको संसार में कुछ भी चिन्ता नहीं है, न करने की आवश्यकता है, मैं उनका सदैव समुद्धर्ता हूँ। उनका सम्यक् उद्धार करने वाला मैं बैठा हूँ।

"गोविन्द-गोविन्द मना लागला रे छन्द!
मग गोविन्द हे काया! भेद नाहीं आम्हा तया!"

("गोविन्द-गोविन्द" का छन्द (रटन, रुचि, रति) मनको लगा है—अब यह काया गोविन्द ही हो गयी। गोविन्द में और हममें कोई भेद न रहा !) ऐसा कहने वाले खुमारी भरे भक्त हुए हैं।

"निर्वाणीं गोविन्द उभा मागे पुढ़े, काही च साँकडे पडो ने दि"

(कसौटी के समय गोविन्द मेरे आगे-पीछे खड़े रहते हैं, दौड़ते रहते हैं, कोई भी किसी भी तरह का संकट-कष्ट मुझ पर पड़ने नहीं देते। मैं कुछ करने चलूँ इससे पहले ही मेरे आगे-पीछे दौड़ कर वे सब काम कर देते हैं।)

[जीवन में जितने अनुकूल संयोग खड़े होते हैं वे ही प्रभु की उपस्थिति के क्षण हैं। प्रतिकूलता के क्षणों में आत्मनिरीक्षण करके देख लेना चाहिये कि कहीं अहङ्कार तो बीच में नहीं आया ? यदि अहङ्कार बीच में नहीं आता और समझपूर्वक यथाशक्ति-यथाबुद्धि-यथामति कर्म किये जाते हैं तो परिस्थिति में अनुकूलता पैदा होती है। परिस्थिति की अनुकूलता ही प्रभु का अनुग्रह है। वे कोई प्रत्यक्ष सामने आकर थोड़े ही आपके हाथों में 'श्रीफल' देने वाले है ? वह भी कहीं-कभी दे सकते हैं किन्तु परिस्थिति की अनुकूलता—यही प्रभु का सबसे मोहक-प्रेरक-मधुर संकेत है—"मैं सदैव भक्तों का समुद्धर्ता हूँ"—इसका अर्थ "भगवान् शिवशक्ति या नारायण रूप में अपने आयुध लिये भक्त के आगे-पीछे दौड़ते हैं"—ऐसा नहीं कीजियेगा। इन शब्दों का अर्थ स्थूल में न ले जाइये, भावार्थ समझिये। अनुकूल परिस्थिति पैदा होना ही प्रभु द्वारा किया हुआ उद्धार है। हम अपने पुरुषार्थ से जीवन में कब कहाँ कितना कर पाते हैं ? प्रभु ही अनुकूलता बन कर जब सामने खड़े हो जाते हैं तब हमसे कुछ हो जाता है। परिस्थिति की अनुकूलता को प्रभु का अनुग्रह समझने की विनम्रता यदि हो तो फिर "मैं उनका समुद्धार करने वाला हूँ' यानी मुश्किलों में से पार करने वाला, रास्ता बताने वाला, रुकावटें दूर करने में मदद करने वाला हूँ—अनुकूलता में अहङ्कार पैदा न हो ऐसी जागृति देने वाला मैं उनके आगे-पीछे दौड़ता हूँ—अन्तःकरण में आवाज़ देते हैं—"यह ठीक कर रहे हो, यह ग़लत कर रहे हो, यह झूठ बोल रहे हो। अनिष्ट की तरफ़ जा रहे हो !"—ऐसी आवाज़ के रूप में ही तो समुद्धर्ता पास बैठे हैं। वे साथ में हैं, पास में हैं, भीतर हैं, बाहर हैं।

यह जीवन जीने की एक दृष्टि है मित्रो! इसे materialist philosophy बना लीजिये तो एक प्रकार का दर्शन बनेगा और अध्यात्म का जीवनदर्शन अलग है। यदि परमात्मसत्ता चैतन्य से ही समस्त सृष्टि बनी है तो जो भी पदार्थ हैं वे प्रभुनिर्मित हैं इसलिये पवित्र है—इतनी एक बात एक बार समझ में आ जाय तो जीवन जीने की शैली और दृष्टि बदल जाती है। दृष्टि बदलती है वैसे दर्शन बदलता है, वृत्ति बदलती है वैसे वर्तन बदलता चला जाता है। भक्ति क्या है? एक आन्तरिक क्रान्ति। दृष्टि में क्रान्ति और वृत्ति में क्रान्ति—यही तो भक्ति है।]

आणि जेह्वांचि का भक्तीं। दिधली चित्तवृत्ती।
तेह्वांचि मज सूती। तयाचिये नाटीं ॥९५॥

याकारणें गा भक्तराया। हा मन्त्र तुवां धनञ्जया।
किजे जे यया। मार्गा भजिजे ॥९६॥

और जब किसी ने भक्ति में अपना चित्त दे दिया, मेरे भक्त हो गये, तब उनकी जिम्मेवारी उठाना भी तो मेरा ही धर्म है। विवाह करके जब लड़का और लड़की एक दूसरे के बन जाते हैं तब एक-दूसरे को सम्हालने के लिये कितनी चाह से तत्पर रहते हैं वे! उसी प्रकार जब भक्त अपना चित्त मुझे देते हैं, या मुझे में ही चित्त रखते हैं तब उनके लिये मैं कुछ करता हूँ—यह कहना भी गलत है। क्योंकि अब उनमें और मुझमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहा। मैं उनके लिये नहीं करता, अपने समाधान व सन्तोष के लिये ही उनकी सेवा करता हूँ। "क्योंकि चित्त मुझे दिया है तो उसे सम्हालेगा कौन?

हे धनञ्जय! भक्ति के पन्थ से तुझे चलना है इतना मन्त्र यदि तू समझ ले तो तेरे प्रश्न का उत्तर तुझे अपने आप मिल जायेगा।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

"मेरे बनने के लिये क्या करना पड़ता है, तुम मेरे बन जाओ अपने मिट जाओ" इसकी व्याख्या आगे आयेगी।

अगा मानस हें एक । माझां स्वरूपीं सवृत्तिक ।
करूनि घाली निष्टंक । बुद्धि निश्चयेंसीं ॥९७॥

इये दोनीं सरिसीं । मजमाजीं प्रेमेसीं ।
रिगालीं तरी पावसी । मातें तूं गा ॥९८॥

जे मन बुद्धि इहीं । घर केलें माझ्या ठायीं ।
तरि सांगें मग काई । मी तूँ ऐसे उरें ॥९९॥

अरे मेरे प्रिय पार्थ ! तेरे पास दो चीजें हैं—मन और बुद्धि । बुद्धि से तू निश्चय कर ले कि मुझे भक्त होना है । कल मन्त्र दिया था—"हे भक्तराज ! तू भक्ति करना ! भक्ति-मार्ग को तू मत छोड़ना । दूसरे मार्ग से जाने की तुझे आवश्यकता नहीं है । यदि तू उस पथ पर चलेगा तो तेरा समुद्धर्ता मैं हूँ ! इस मन्त्र के अनुष्ठान के लिये साधन बता रहे हैं । तेरे पास जो मन है उसे समस्त वृत्तियों के साथ मेरे स्वरूप में तू अर्पण कर दे । इस अर्पण का निश्चय तू बुद्धि से कर ले ।

[बुद्धि का निश्चय न हो, और प्रभावित हो गये हों किसी के व्यक्तित्व से, प्रवचन की शैली से, बहुत लोगों द्वारा मिले हुए सम्मान से, और जनसमुदाय किसी के पास जा रहा है इसलिये हम भी चलें—उत्सुकता से; भेड़-बकरियाँ जैसे एक दूसरे के पीछे चलती जाती हैं किसी भी दिशा में, वैसे जहाँ लोगों को जाते देखा वहाँ हम भी चले—लोग करते हैं इसलिये हमने भी किया—तो उसमें बुद्धि का निश्चय नहीं होता । भावना के आवेग में, आतुरता में, आवेश में जो किया जाता है, उसमें धृति की शक्ति नहीं लगती है । जब बुद्धि निश्चय करती है तब चित्त की शक्ति भी उसके साथ हो लेती है । नहीं तो आज निश्चय किया, घड़ी भर में बदल दिया । वह निश्चय नहीं है जो बदलता है ।

"निश्चय के महल में बसे मेरा प्यारा"

भक्तों की वाणी के सेवन के लिये रसिकता चाहिये हो !
बहुत सरल शब्द होते हैं, उनमें गूढ़ तत्त्व भरा होता है ।

बुद्धि ने यदि कहा हो कि मुझे तो संसार ही प्रिय है, संसार के सुख मुझे चाहियें, समाज में प्रतिष्ठा चाहिये, सन्मान चाहिये, वैभव-परिग्रह चाहिये: और मन प्रभावित हो गया हो किसी की सिद्धियों के कारण, व्यक्तित्व के कारण या ग्रन्थों ने कहा है इसलिये—तो अन्दर

द्वन्द्व चलेगा। कभी बुद्धि का निश्चय काम करेगा तो मन भटक जायेगा कि मुझे यह नहीं चाहिये, तुम्हारे निश्चय के अनुकूल तुम्हारे संस्कार नहीं हैं। कभी मन चलता है तो बुद्धि मुकर जाती है।

इस प्रकार का द्वन्द्व भीतर पैदा होकर जीवन व व्यक्तित्व छिन्न-विच्छिन्न न हो जाय-इसके लिये ज्ञानेश्वर महाराज कह रहे हैं—]

मन की सब वृत्तियाँ मुझ में ही स्थिर करके बुद्धि में निश्चय करले। (जब बुद्धि में निश्चय होता है तब चित्त में सङ्कल्प उठता है। सङ्कल्प में बहुत शक्ति है—'मैं अब यह करने वाला हूँ'। किसी के कराने से सङ्कल्प नहीं होता; वह तो वस्तुतः भीतर अपनी बुद्धि के निर्णय से होता है। तब मनकी वृत्तियाँ भटकती नहीं, सब साथ चलती हैं। दोनों एक साथ चलते हैं, दोनों अपना अन्तर्निहित रस लेकर साथ कार्य करते हैं। इस प्रकार जब ये दोनों प्रेमपूर्वक एक साथ मुझमें प्रवेश करते हैं, तब तुम मुझे पाते हो।

[इस ग्रन्थ का पारायण हम क्यों करते हैं? केवल बौद्धिक-मानसिक रञ्जन के लिये नहीं, इस ग्रन्थ से कुछ सीखने के लिये ही। हमारे दैनिक जीवन में कुछ परिवर्तन आवे, उत्क्रान्ति की ओर कदम बढ़े। तुकाराम कहते हैं कि श्री ज्ञानेश्वरी को नौ हजार ओवियाँ सब पढ़ गये, लेकिन एक भी ओवी के अर्थ का वास्तविक बोध न हुआ, प्रतीति न पायी तो पारायण व्यर्थ है। और एक भी ओवी का प्रत्यय पा लिया तो जीवन सार्थक हो जायेगा।]

इन दोनों का एक साथ मुझमें प्रवेश हो जाय तो मैं उपलब्ध होता हूँ। (मुझे कहीं से प्राप्त नहीं करना पड़ता; क्योंकि अप्राप्त मैं कभी नहीं, सदा—सर्वत्र मेरी ही सत्ता विराजमान होने से। मैं बोध रूप में प्रत्यय रूप में उपलब्ध होता हूँ। (परमात्मा तो भीतर-बाहर सदा हैं ही हैं; उनकी इस उपस्थिति का भान ही उपलब्धि है।........

प्राप्ति और उपलब्धि में बहुत अन्तर है। भक्ति, ज्ञान, योग अध्यात्म में कुछ भी प्राप्तव्य या गन्तव्य नहीं है। केवल सत्य समझना है और वह सत्य अपने भीतर अपना स्वरूप बनकर बैठा है, उसे उपलब्ध करना है।

"उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।"

उपद्रष्टा तो वह है ही, अनुमन्ता तब बनता है जब उसकी उपस्थिति का हमें ख्याल आता है, भान होता है। हमारी सभानता में उनकी उपलब्धि है। फिर तो वे 'भर्ता' और 'भोक्ता' भी बनते हैं।

यह होगा तभी जब बुद्धि और मन दोनों परमात्मा में प्रवेश कर जायें। यह 'दोनों' बड़ा महत्त्व का शब्द है। बुद्धि तो बहुत बार उधर जाती है और ज्ञान या भक्ति का पथ पकड़ना चाहती है पर मन में पड़े हुए जाति-वंश आदि के संस्कार एवं व्यक्ति की विविध वासना-कामनाओं के संस्कार भक्ति होने नहीं देते, ज्ञान को टिकने नहीं देते। या तो मन की भावनाओं के पीछे दौड़ पड़ते हैं तो उसके पीछे बुद्धि का बल नहीं है। या फिर बुद्धि का बल है किन्तु हृदय शुष्क है, तब भी भक्ति नहीं हो पाती। दोनों एक साथ परमात्मा में लगे होने चाहिये; तभी उनकी उपलब्धि होती है। मन और बुद्धि दोनों ने जब मेरी सत्ता को अपना निवास बना लिया हो, मेरी सत्ता में ही दोनों अपना घर बनाकर बस गये हों, वहीं रहते हुए सब व्यवहार कर रहे हों। तब भक्ति जीयी जाती है। (जिसे अपना घर ही पता नहीं, वह अस्थिर बनजारे जैसा व्यक्ति भक्ति क्या करेगा ?) जब उन्होंने मुझे ही अपना निवास बना लिया, तो कहो तो भला; उनमें और मुझ में कोई अन्तर रहेगा ? कि वे मुझे पुकारें तब दौड़कर मैं उनके पास जाऊँ और मदद करूँ ? [प्रभु तो स्मरण मात्र से 'आधे नाम' लेते में आ जाते हैं—ऐसे तो पागल प्रेमी हैं वे ! प्रेमरसमयी काया ही है उनकी, रस तो प्रेम के सिवा दूसरा है ही नहीं। लेकिन 'प्रेम' शब्द का इतना दुरुपयोग हुआ है दुनिया में कि उसका उपयोग करने में चित्त में सङ्कोच, क्षोभ होता है।.... प्रभु कहते हैं—] मुझमें उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहता है।

म्हणोनि दिवा पालवें। सवेंचि तेज मालवें।
कां रविबिम्बासवें। प्रकाशु जाय ॥१००॥

उचललेया प्राणासरिसीं। इन्द्रियें हीं निगतीं जैसीं।
तैंसा मनोबुद्धिपाशीं। अहङ्कारु ये ॥१०१॥

(बहुत ही सुन्दर उपमा द्वारा विषय समझाया जा रहा है—) अर्जुन की मुखमुद्रा पर मानो प्रश्न है कि हे प्रभु ! मन-बुद्धि तो आपमें बस गये, लेकिन अनादि काल से जो अहङ्कार दृढ़ होता रहा है इसकी क्या व्यवस्था होगी ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—] दीपक को शान्त

किया (प्राचीन मराठी में, आज भी ग्रामों में बोली जाने वाली मराठी में दीपक को 'बुझाना' नहीं कहा जाता। ज्योतिका शमन होता है 'बुझाने' जैसी अरसिकता कोमल सुकुमार संस्कृति-सम्पन्न भारतीय हृदय को सहन नहीं होती। 'बुझाना' शब्द का स्पर्श सहन नहीं होता। यह संकेतों की मधुरता-सुकोमल संवेदनशीलता जीवन का प्राण है; आज के तर्कप्रधान कोरे वैज्ञानिक मस्तिष्क में उस संवेदन-शीलता एवं संकेतों की मधुरता का गला घोंटा जाता है। संकेत-संज्ञा-प्रतीक आदि को समझने-विनियोग करने के लिये अत्यन्त कोमल ऋजु हृदय चाहिये। तब सङ्केत जीते हैं, संवेदनशीलता जीती है। यहाँ कह रहे हैं कि) जब कोई दीपक शान्त होता है तब उसकी ज्योति कहाँ जाती है अर्जुन? [प्रश्नार्थक उद्‌बोधन है; कभी उद्‌गार वाचक अभिव्यक्ति शब्द द्वारा प्रबोधन है; यहाँ एक भी ओवी प्रबोधन-रहित नहीं होती। ज्ञानेश्वर महाराज ने ग्रन्थ प्रारम्भ में ही प्रतिज्ञा की है कि यह ग्रन्थ जो जिज्ञासा-पूर्वक पढ़ेगा वह ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय तक पहुंचते-पहुंचते मोक्ष का अधिकारी व आत्मसम्पन्न हो जायेगा] ज्योति में से प्रकट होने वाला तेज दीप-शिखा के शान्त होने पर जैसे ज्योति में समा जाता है। और रविबिम्ब जब अस्त होता है तब रश्मियाँ सब रवि के साथ ही जाती हैं न! उसी प्रकार जब मन और बुद्धि एक साथ अपने सब रसों (वृत्तियाँ, उनका हलन-चलन-गति तथा विचार-चिन्तन मनन करने की शक्ति) को लेकर आत्मा में प्रवेश करते हैं तब अहङ्कार भी साथ ही चला जाता है। जैसे शिखा-ज्योति में समाया तेज उस ज्योति के साथ शान्त हो जाता है, वैसे जब मन और बुद्धि मेरे स्वरूप में प्रविष्ट होते हैं तब अहङ्कार भी वहाँ लीन हो जाता है। [अध्यात्म में अहङ्कार का नाश, दमन-पीडन-निग्रह-निरोध द्वारा उसे कुचल डालना अभिप्रेत नहीं है। अध्यात्म रसिकों का विषय है। जीवन वही जियेगा जो रसिक होगा। दमन-पीडन-निग्रह आदि द्वारा शरीर और चेतना को कष्ट देने वाले जीवन नहीं जी सकते हैं और भोगासक्त चित्त वाले भी जी नहीं सकते। चित्त और काया शिथिल हो गये तो रस-ग्रहण-सेवन कैसे होगा? "जीवनं रससेवनम्" यह त्यागियों का काम नहीं, भोगियों का काम नहीं, यह तो संयमियों का काम है।] मन और बुद्धि जहाँ एक साथ चले गये वहाँ अहङ्कार कैसे बचा-बना रहेगा?

रविबिम्ब के साथ प्रकाश चला जाता है वैसे मन-बुद्धि के साथ अहङ्कार भी विलीन हो जाता है।

और दृष्टान्त लो। शरीर में से जब प्राण चले जाते हैं तो इन्द्रियों में रही हुई शक्तियाँ-क्षमतायें-वृत्तियाँ-विभूतियाँ सब समाप्त हो जाती हैं। प्राण के साथ उनका भी निर्गमन होता है न! देह में वे शेष नहीं रहतीं। प्राणों के साथ ही साथ शरीर की सभी शक्तियाँ निकल जाती हैं। उसी प्रकार मन बुद्धि के पीछे-पीछे अहङ्कार चला जाता है।

सोचने की बात है, हमारा अहङ्कार लीन नहीं होता। या तो बुद्धि का निर्णय नहीं है, या बुद्धि के निर्णय को मन ने प्रेम से राजी खुशी से स्वीकार नहीं किया। या तो मन के साथ ज़बर्दस्ती है या बुद्धि के साथ ज़बर्दस्ती हो रही है। इसलिये अहङ्कार-ग्रन्थि साँप के फन जैसा ऊपर उठता है, और आप कुछ करने चलते हैं तो वह डङ्क मारता है, डसता है।

म्हणोनि माझ्या स्वरूपीं। मन बुद्धि इयें निक्षेपीं।
येतुलेनि सर्वव्यापीं। मीचि होसी ॥१०२॥

यया बोला काहीं। अनारिसे नाहीं।
आपली आण पाहीं। वाहतु असे गा ॥१०३॥

इसलिये "मेरे स्वरूप में तू मन-बुद्धि को एक साथ प्रविष्ट करा दे!" [स्वरूप क्या है प्रभु का ?—

"वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते॥"

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥"

ईश के लिये आवास्य है जगत्, ईश का आवास बना हुआ है। मेरे स्वरूप में यानी मेरी सत्ता में—सर्वत्र, सर्वरूपेण सर्वदा जो व्याप्त है उस मेरे स्वरूप में मन-बुद्धि समा दे। वह सत्-ता है होनेपना है, isness है; और कुछ नहीं है। उपासना के लिये मेरी सत्ता के प्रतीक रूप विग्रह भले बना लो। वह स्थल-जल-वायु में चलने वाले वाहनों की तरह गति को धारण करने के माध्यम-साधन हैं। जो गति हमारी देह धारण नहीं कर पाती वह गति धारण करने के लिये आप उपकरण बना लेते हैं वैसे उस

सर्वव्यापी सत्ता के साथ अनुसन्धान स्थिर करने के लिये भले आप प्रतीक बना लीजिये, उपासना कीजिये, पर यह स्मरण रखियेगा कि वह प्रतीक मात्र है मेरे उस स्वरूप का, जो सर्वत्र-सर्वरूप-सदा सर्वदा वर्तमान है। यह ईश्वर की, परमात्मा की, वासुदेव की व्याख्या समझने लायक है।] [क्रमशः]

स्नेह-अङ्कित दो हृदयावस्था

व्यक्ति में सीमित चित्त — वैश्विक प्रज्ञा से एकीभूत चैतन्य

डोरी एक स्नेहमयी
फुँदने दो छोर पर
(इदम्) एक सीमित में अखूट चाह मिलने की
(तत्) दूसरा असीम देता असीम व्योम पथ
दो छोर मिल पायें तो,
वृत्त बने पूर्णिमा
(व्यास — रक्षाबन्धन — शरद् रास)
(श्रीगुरु-शिष्य) (भाई-बहन) (गोपाल-गोपी)
न हो पाये वह तो,
एक-एक बिन्दु-कण मिटते-मिटते
एक-एक कला-क्रम घटते-घटते
सोम समाये रवि में
रहे एक अमात्र
दिखे भले अमावस
न दिखे पूरा प्रणव
ॐ
स्नेह सत् रहेगा ही
जो 'दर्श' है!
ॐ
(—भोली—)

भयभञ्जन भगवान्

[आयु के सत्रहवें वर्ष में लिखित]

—श्रीमद्राजचन्द्र

उज्ज्वल ज्योतिस्वरूप तुम, केवल कृपानिधान।
प्रेम पुनीत तव प्रेरिये, भयभञ्जन भगवान् ॥१॥
नित्य निरञ्जन नित्य हैं, तोड़ें सभी गुमान।
अभिवन्दन अभिवन्दना, भयभञ्जन भगवान् ॥२॥
धर्मधरण तारण-तरण, चरण-शरण-सम्मान।
विघ्नहरण पावन-करण, भयभञ्जन भगवान् ॥३॥
भद्रभरण, भीतिहरण, सुधाझरण शुभवान्।
क्लेशहरण, चिन्ताचूरण, भयभञ्जन भगवान् ॥४॥
अविनाशी अरिहन्त तुम, एक अखण्ड अमान।
अजर, अमर व अजन्म हो, भयभञ्जन भगवान् ॥५॥
आनन्दमय अपवर्गस्वयं, अकलगतिक अनुमान।
आशिष अनुगति दीजिए, भयभञ्जन भगवान् ॥६॥
निराकार निर्लेप हो, निर्मल-नीति-निधान।
निर्मोहक नारायण हे, भयभञ्जन भगवान् ॥७॥
सचराचर स्वयम्भू प्रभु, सुखद दीजिये 'सान'।
सृष्टिनाथ सर्वेश्वर, भयभञ्जन भगवान् ॥८॥
संकट-शोक-सकलहरण, अभिनव ज्ञाननिदान।
इच्छा-विकल को अचल करो, भयभञ्जन भगवान् ॥९॥
आधि-व्याधि-उपाधि सब, हरिये आँधी-तूफान।
करुणालु करुणा करो, भयभञ्जन भगवान् ॥१०॥
किंकर की कंकड़ मति, भूल भयङ्कर भान।
शङ्कर ! स्नेह से हरो सभी, भयभञ्जन भगवान् ॥११॥
शिशु को बल-बुद्धि दीजिये, भक्ति-मुक्ति का दान।
आपकी युक्ति प्रसिद्ध है, भयभञ्जन भगवान् ॥१२॥

नीति-प्रीति अरु नम्रता, शुद्धि-भक्ति का भान।
आर्य-प्रजा को दीजिये, भयभञ्जन भगवान् ॥१३॥

दया, शान्ति, औदार्यता, धर्म-मर्म-मनध्यान।
सख्य-समझ-निष्कम्प दो, भयभञ्जन भगवान् ॥१४॥

प्रमाद, आलस, गफ़लतें, हरिये अघ-अज्ञान।
भारत का भ्रमजाल हरो, भयभञ्जन भगवान् ॥१५॥

तन-मन-धन अरु अन्न का, दो सुख सुधा-समान।
इस अवनी का करो भला, भयभञ्जन भगवान् ॥१६॥

विनय-प्रार्थना 'राय' की, कृपया कीजिये ध्यान।
महाराज स्वीकारिये, भयभञ्जन भगवान् ॥१७॥

जड़ औ चैतन्य दोनों द्रव्यों का स्वभाव भिन्न,
दोनों की समझ जिसे सुप्रतीति-रूप है।
स्वरूप-चेतन निज, जड़ है सम्बन्ध-मात्र,
अथवा वो ज्ञेय, किन्तु परद्रव्यरूप है।
ऐसा अनुभव का प्रकाश हुआ उल्लसित,
जड़ से उदासी सो ही आत्मवृत्ति पाय है।
काया की बिसार माया, स्वरूप में जा समाया
निर्ग्रन्थ का पन्थ भव-अन्त का उपाय है ॥१॥

देह जीव एकरूप भासते अज्ञान-वश
क्रिया की प्रवृत्ति भी तो उससे ही प्राप्त है।
जीव की उत्पत्ति और रोग-शोक, दुःख, मृत्यु
देह का स्वभाव जीव पद में प्रतीत है।
ऐसा जो अनादि एकरूप का मिथ्यात्वभाव
ज्ञानी के वचन द्वारा होता वो निवृत्त है।
भासे जड़ चैतन्य का प्रगट स्वभाव भिन्न
दोनों द्रव्य होते निज-रूप में ही स्थित हैं ॥२॥

["श्रीमद्" द्वारा १९५६ में लिखित]

[मूल गुजराती से अनूदित, स्वयं 'श्रीमद्' के शब्दों को प्राय: ज्यों का त्यों रखने के लिए, कहीं-कहीं छन्द-यति टूटी है, जो पाठ में सँभाली जा सकती है—भोली]।

"प्रयत्न प्रामाणिक हो, बुद्धि के चिन्तन की पराकाष्ठा हो, शरीर से प्रयत्न की पराकाष्ठा हो, तब जहाँ बुद्धि कुण्ठित होगी, शरीर की मर्यादा आयेगी, वहाँ वैश्विक प्रज्ञा द्वारा किसी न किसी रूप से, कभी व्यक्ति के रूप से, कभी ग्रन्थ-पंक्ति के रूप से, कभी स्वप्न के रूप में, तो कभी रास्ते चलते किसी भी सहयात्री के अचानक प्रसङ्गवश निकले किसी वाक्य या घटना से भीतर का परदा हटकर प्रकाश प्रस्फुटित हो सकता है।

पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के समान वैश्विक-प्रेमाकर्षण का भी सहज नियम है। इसीलिए प्रामाणिक जिज्ञासु-साधक को जीवन-पथ में मदद मिले बिना नहीं रहती।"

[प्रकाशनाधीन 'पगडण्डी-जीवन की ओर' में से] —विमला

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन !"

[मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है; प्राप्त कर्म को पूरी कुशलता एवं पूरी शक्ति-मति-क्षमता उँड़ेल कर आजीवन करता रहे, किसी भी स्तर में उस कर्म का फल न चाहे,—"नेकी कर कुएँ में डाल !" ………कर्म करने की क्षमता आजीवन बनी रहे—यही "प्रभु" की महती कृपा है, उसी में सन्तोष मानना—मनुष्य के लिए शान्तिपथ है।]

© विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट आर्थिक सहाय श्री ल० वेकरिया सम्पादनादि--शिवनिर्माल्य

❀ किसी भी प्रकार का विज्ञापन या प्रचार नहीं ❀

प्राप्तिस्थान एवं पत्र तथा मूल्यादि भेजने का पता— शिवकुटी, आबू पर्वत 307501 या 'आम्नाय' 209/1 करौंदी डाक० वाराणसी २२१००५

वार्षिक मूल्य-रु० २५ मात्र
यह प्रति-रु. ९ + डाकखर्च

प्रकाशन—वर्ष में प्रायः चार बार, मुद्रक—तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

कृपया शुल्क M. O. या ड्राफ्ट द्वारा ही भेजें, चेक नहीं; एवं M. O. के सन्देश-स्थान में प्रेषक का नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

अङ्कुर-सिञ्चन

● स्वयं अपराध न करो; संसार के सब अपराधियों को क्षमा कर दो ।

—रामतीर्थ

● तीन बातें रोज़ याद करो :—पाप तो नहीं किया ? क्या उत्तम काम किया ? और, करने योग्य कौन-सा अच्छा काम छूट गया ?

—अफलातून (प्लेटो)

● सत्य, समर्पण और सेवा क्षमा पर ही टिके हैं ।

—श्री अरविन्द

● जब तू यज्ञ-पूजा-प्रार्थना और धर्म के लिए जाय, तब तू याद कर कि मेरा दुनिया में किसी भी प्राणी के साथ वैर तो नहीं है ? अगर है, तो वापस लौट जा और उससे क्षमा माँगकर सुलह कर ले !

—ईसा मसीह

● राम सचाई और ईमानदारी का दूसरा नाम है । सच्चाई और ईमानदारी की कसौटी होती है दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार; और यदि हमारे व्यवहार में यह भावना है कि हम दूसरों को देकर ही स्वयं कुछ ग्रहण करें, तो हम ईमानदार हैं, सच्चे हैं, राम के सेवक हैं ।

—म० गान्धी

● जब तक 'अपना' कुछ लगता है, तभी तक अपना कुछ बनता या बिगड़ता है । जब 'अपना' लगना बन्द हो गया, तब अपना बनना और बिगड़ना भी बन्द हुआ । नंगा क्या धोये ? क्या निचोड़े ? जिसका अपना कुछ नहीं, उसका क्या बने और क्या बिगड़े ?

अध्यात्म का स्वाद है आध्यात्मिक होने में ।
मिठाई का स्वाद है मिठाई बनाकर खाने में ।

● मंजिल दूर नहीं । प्राप्ति के लिये तीव्र पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं । उससे दूर रहने का पुरुषार्थ छूट जाये तो मैं मंजिल पर ही हूँ ।

—अमिताभ